तुलसी के चार दल

पुस्तक दूसरी

(रामलला नहछू, बरवैरामायण, पार्वती-मंगल तथा
जानकी-मंगल)

मूल, शब्दार्थ, अर्थ तथा टिप्पणियों सहित

लेखक

सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

(विश्वंभरनाथ सनातनधर्म कालेज, कानपुर)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग

१९३५

प्रथम संस्करण] [मूल्य २)

ग्रंथ-सूची

तुलसी के चार दल

रामलला नहछू

सोहर छंद

आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो।
रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो॥
जेहि गाये सिधि होय परम निधि पाइय हो।
कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइय हो॥ १॥

शब्दार्थ—सारदा (शारदा)—वाग्देवी, सरस्वती। गनपति (गण-पति)—गणेश। नहछू (नखक्षुर)—नाखुर, नख काटने की रीति। निधि—कोष, धनागार। गौरि (गौरी)—पार्वतीजी। पातक—पाप।

अर्थ—सर्वप्रथम मैं सरस्वती, गणेश और पार्वती की वंदना करता हूँ और फिर श्रीरामचंद्रजी का नहछू गाकर सुनाता हूँ, जिसके गाने से सभी सफलताएँ प्राप्त होती हैं और सर्वोत्तम कोष (अर्थात् मुक्तिपद) मिलता है तथा करोड़ों जन्मों के पाप दूर हो जाते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में तुलसीदासजी ने सबसे पहले सरस्वती, गणेश तथा पार्वतीजी की वंदना की है। किंतु अपनी सभी कृतियों में उन्होंने इस क्रम का अनुसरण नहीं किया। यथा—

'मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।' ('मानस', बालकांड)
'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।' (" ")
'जेहि सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर बदन ।' (" ")
'पुनि बंदौं सारद सुरसरिता ।' (" ")
'बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि ।' (पार्वती-मंगल)

'गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति ।
सारद सेष सुकबि स्रुति संत सरलमति ॥
हाथ जोरि करि बिनय सबहि सिर नावौं ।' (जानकी-मंगल)

गोस्वामीजी के इष्टदेव गणेशजी आदि नहीं थे, परंतु प्रत्येक मंगल कार्य के आरंभ में इन देवताओं की वंदना करने की परिपाटी है। अस्तु, गोस्वामीजी द्वारा इस प्रकार की वंदना दो विचारों की द्योतक है—

अ—अपने उपास्य देव की वंदना के नाम पर सूर के समान उन्हें 'हरि हरि, हरि हरि सुमिरन करौ' कहकर प्रत्येक ग्रंथ में पुनरुक्ति करना पसंद न था ।

आ—उनकी सामंजस्यकारिणी प्रवृत्ति केवल लोक-व्यवस्था तक ही परिमित न थी वरन् धर्म में भी उसका स्थान था ।

(२) नहछू—यज्ञोपवीत अथवा विवाह संस्कार के प्रथम दिन लड़के की माता उसे गोद में बैठाकर नाखून कटवाती है । इसके उपरांत उसके पैरों में महावर लगाया जाता है। वस्त्राभूषण आदि पहनाकर लड़के को सजाते हैं । इस छंद में एक-दो स्थलों पर छेकानुप्रास है ।

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो ।
देवलोक सब देखहिं आनँद अति हिय हो ॥
नगर सोहावन लागत बरनि न जातै हो ।
कौसल्या के हर्ष न हृदय समातै हो ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बाजन—बाजा (वाद्य) का बहुवचन। देवलोक—वैकुंठ। सोहावन—शोभामय, सुहावना।

अर्थ—(श्रीरामचंद्रजी के नहछू के उपलक्ष्य में) राजा दशरथ के द्वार पर करोड़ों (प्रकार के) बाजे बज रहे हैं। (इस उत्सव से) सबके हृदय में इतनी प्रसन्नता हो गई है कि वे सारे नगर में वैकुंठ का अनुभव करते हैं। नगर इतना सुंदर प्रतीत होता है कि उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। (उत्साह के कारण) कौशल्या का हर्ष इतना बढ़ गया है कि वह उफनाया पड़ता है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में वर्णन को धीरे धीरे बहुत बड़ा बना लिया गया है। चार पंक्तियों में गोस्वामीजी ने पुर-सौंदर्य और जनहर्ष की सीमा दिखा दी है। इन पंक्तियों में प्रसाद-गुण स्पष्ट है।

(२) पुत्र के लिये किए गए उत्सव से माता को विशेष आनंद होता है, इसी बात को गोस्वामीजी ने यहाँ कहा है। यह उनके पर्य्यवेक्षण की विशदता है।

(३) देवलोक—कुछ लोग इस स्थान पर यह अर्थ भी देते हैं कि 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी होता है। अतः उनकी दृष्टि से यह भाव निकलता है कि 'सभो देवता लोग देखते हैं और प्रसन्न होते हैं'।

आलेहि बाँस के माँड़व मनिगन पूरन हो।
मोतिन्ह झालरि लागि चहूँ दिसि झूलन हो॥
गंगाजल कर कलस तौ तुरित मगाइय हो।
जुवतिन्ह मंगल गाइ राम अन्हवाइय हो॥ ३॥

शब्दार्थ—आले—हरे, ताजे। माँड़व—मंडप, मँड़वा। तुरित (त्वरित)—शीघ्र। जुवती—युवती स्त्री।

अर्थ—हरे बाँसों का ही मंडप बनाया गया है। उसमें भली भाँति मणियाँ लगाई गई हैं। उसके चारों ओर मोतियों की झालर ढीली ढीली लटक रही है। (हवा लगने से) वह झूले सी हो रही है। श्रीरामचंद्रजी को स्नान कराने के लिये गंगाजल का घड़ा अभी लाया गया है। मंगल-गान करती हुई युवतियाँ उस जल से श्रीरामचंद्रजी को नहलाती हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में दो स्थलों पर छेकानुप्रास अलंकार है।

(२) पहली पंक्ति में 'बाँस' के बाद आई हुई 'के' विभक्ति खड़ी बोली की है। अवधी में केवल 'क' होनी चाहिए थी। 'के' के कारण 'माँड़व' बहुवचन में मालूम होता है, परंतु ऐसी बात नहीं है। अवधी में अन्यत्र भी 'के' विभक्ति का इसी प्रकार प्रयोग मिलता है।

गजमुकुता हीरा मनि चौक पुराइय हो।
देइ सुअरघ राम कहँ लेइ बैठाइय हो॥
कनकखंभ चहुँ ओर मध्य सिंहासन हो।
मानिकदीप बराय बैठि तेहि आसन हो॥ ४॥

शब्दार्थ—चौक—आटे की लकीरों से बनाई आकृति जो शुभकर्मों में आसन के नीचे बना दी जाती है। यहाँ पर चौक मोती, हीरा और मणियों का बना हुआ है। सुअरघ (सुअर्घ्य)—सूर्य-चंद्र आदि देवताओं को जल देना। इसमें बहुधा ये आठ वस्तुएँ काम में लाई जाती हैं—(१) पानी, (२) दूध, (३) कुश, (४) दही, (५) घी, (६) चावल, (७) जव, (८) सफेद सरसों। बराय—जलाकर।

अर्थ—हाथियों के गंडस्थलों से निकले हुए मोतियों से तथा हीरों और मणियों से चौक बनाए गए और चौक पर रखे हुए

आसन पर राम को, अर्घ्य देकर, बिठाया गया। चारों ओर सोने के खंभे हैं और बीच में रामचंद्रजी का (बैठने का) सिंहासन है। माणिक्य-दीप प्रदीप्त किए गए हैं और (उनसे प्रकाशित) उक्त आसन पर रामचंद्रजी आसीन हैं।

टिप्पणी—(१) 'कहँ' अवधी की विशेष विभक्ति है।

(२) साधारण लोगों के यहाँ शुभकर्म के समय घी का दिया जलाया जाता है; परंतु यहाँ मणियों का दीप जलता था।

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो॥
अहिरिनि हाथ दहेँड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो॥ ५॥

शब्दार्थ—बनि बनि—शृंगार कर करके, बन-ठनकर। मायन—मातृका-पूजन। बरायन—कंकण। उनरत—उठते हुए। जोबनु (यौवन)—यौवन के चिह्न।

अर्थ—यह जानकर कि आज राजा के घर मातृका-पूजन है (और उत्सव में बहुत लोग आवेंगे) स्त्रियाँ शृंगार करके आ रही हैं। लोहारिन हाथ में कंकण लिए मुसकराती चली आती है। ग्वालिन हाथ में शकुन का चिह्न दहेंड़ी (दही का बर्तन) लेकर आ रही है। उसके उठते हुए यौवन को देखकर राजा दशरथ प्रसन्न हैं।

टिप्पणी—(१) कुछ लोग 'बरायन' शब्द का अर्थ उस कड़े से भी लेते हैं जो दूल्हे (बनरे) को दूसरों की कुदृष्टि से बचाने के लिये पहनाया जाता है।

(२) इस छंद में स्वभावोक्ति अलंकार है। 'बनि-बनि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार भी है।

(३) 'भावइ' शब्द के प्रयोग ने चौथी पंक्ति को जो महत्ता दी है, वह गोस्वामीजी का वाक्याधिकार प्रकट करता है। कहते हैं कि गोस्वामीजी पर रहीम का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अहिरिन की सुंदरता का वर्णन रहीम ने नगर-शोभा-वर्णन में इस प्रकार किया है—

परम ऊजरी गूजरी, दह्यौ सीस पै लेइ।
गोरस के मिस डोलही, गोरस नेक न देइ॥

गोस्वामीजी का छंद इस दोहे से अधिक उज्ज्वल और शिष्ट है। उनके विचारों ने उच्छृंखलता को बहुत सँभाला है। परंतु इतना युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'उनरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हो' को गोस्वामीजी अपने रचना-काल की प्रारंभिक अवस्था में ही लिख सकते थे।

रूपसलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर बिलोकहि मन तेहि साथहि हो॥
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगंधन बोरा हो॥ ६॥

शब्दार्थ—सलोनि—लावण्यमयी। बीरा—लगा हुआ पान। गात (गात्र)—शरीर। जोरा—जामा, वस्त्र का जोड़ा। परम—बहुत सी। बोरा—डुबोया हुआ।

अर्थ—रूपवती तँबोलिन हाथ में पान का बीड़ा लिए है। वह जिसकी ओर देखती है उसी का मन अपने साथ कर लेती है। गोरे बदनवाली दर्जिन हाथ में 'जोड़ा' लिए हुए है, जो सुगंधित केसर के रंग में रँगा गया है।

टिप्पणी—(१) दूसरी पंक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि तँबोलिन स्वयं जिस किसी को देखती है उस पर यह प्रकट कर देती है कि वह अपने को बलिहार करती है, अर्थात् सारे हाव-भाव दिखलाती है। किंतु इस प्रकार भी यही अर्थ निकलता है कि वह उनके मन को अपने साथ कर लेती है अथवा मुग्ध कर लेती है। इसी अर्थ को रहीम यों प्रकट करते हैं :—

सुरँग बरन बरइन बनी, नैन खवाये पान।
निसि-दिन फेरै पान ज्यों, बिरही जन के प्रान॥

(२) केसर के रंग में मुख्य गुण यह है कि वह तेज बढ़ानेवाला पीलापन लिए गेरुआ होता है; साथ ही उससे कपड़े में एक प्रकार की सुगंधि आ जाती है।

(३) ऊपर के सभी छंदों की भाँति इस छंद में भी प्रसाद-गुण और स्वभावोक्ति अलंकार है।

मोचिनि बदन-सकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो॥
बतिया कै सुघरि मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतनमनि मौर लिहे मुसुकातहि हो॥ ७॥

शब्दार्थ—मोचिनि—चमारिन। सकोचिनि—सिकोड़नेवाली (?)। सुघरि (सुघड़)—सुंदर। पनहि (उपानह्)—जूते।

अर्थ—दूसरों के छू जाने के भय से अपने शरीर को सिकोड़कर खड़ी होनेवाली चमारिन हाथ में (श्रीरामचंद्रजी के पहनने के लिये) जूते लिए हुए, सुंदर आँगन में, शोभित है और (नेग में) हीरा माँग रही है। मधुरभाषिणी सुंदर शरीरवाली मालिन सोने, रत्न तथा मणियों से जटित मौर लिए हुए मुसकुरा रही है।

टिप्पणी—(१) 'बदन-सकोचिनि' का अर्थ 'मुँह सिकोड़नेवाली' अथवा 'संकोच से मुँह दाबनेवाली' या 'छिपानेवाली' किया जाना अधिक समीचीन है; क्योंकि गोस्वामीजी की भाषा संस्कृत की ओर अधिक झुकी हुई मानी गई है। उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग कम मिलता है। संस्कृत में 'वदन' का अर्थ 'मुँह' होता है; केवल उर्दू में उसका अर्थ शरीर लगाया जाता है। फिर अधिक नेग माँगने के कारण उसके मन में संकोच होना तथा उसका संकुचित मुख से बोलना स्वाभाविक ही है। मोचिन का दशरथ के आँगन में उपस्थित होना यह प्रकट करता है कि उस समय भी छुआछूत-विषयक बातों के प्रति लोगों के विचार उदार थे।

(२) 'हीरा माँगन' का एक अर्थ हीरा माँगना है जिसके कारण मोचिन को अपना मुँह संकुचित करना पड़ता है। दूसरा अर्थ 'सिर की माँग' भी हो सकता है जिसमें हीरा लगाए जाने की प्राचीन काल में रीति रही हो। औरों की भाँति उसका भी कुछ शृंगार-वर्णन वांछित है। किंतु उसका हीरा माँगना ही अधिक संभव है। ऐसी अवस्था में 'सुंदर' शब्द उसका विशेषण माना जा सकता है। रहीम भी मोचिन का कुछ ऐसा ही वर्णन करते हैं—

चोरत चित्त चमारिनी, रूप-रंग के साज।
लेत चलाये चाम के, दिन द्वै जोबन राज॥

(३) पिछली दो पंक्तियों में उदात्त अलंकार है।

कटि के छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥

शब्दार्थ—छीन (चीण)—पतली। पानिहि (पाणि)—हाथ में ही।

अर्थ—चंद्रमा के समान (गोल और सुंदर) मुखवाली, हिरनी के समान चंचल नेत्रोंवाली, सब प्रकार के हाव-भाव जाननेवाली, पतली कमर की बारिन हाथ में छाता लिए है और बड़ी बड़ी आँखोंवाली नाउन भौं चमका-चमकाकर अर्थात् सबकी ओर कटाक्ष करके, रनिवास को विनोदपूर्ण गालियाँ देकर, प्रसन्नतापूर्वक गाती है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में स्वभावोक्ति अलंकार है। 'चंद्र-बदनि मृगलोचनि' में वाचक-धर्म-लुप्तोपमा है। कुछ पदों में छेकानुप्रास है।

(२) अंतिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है—रानियाँ उसको विनोदपूर्ण भाषा में गालियाँ देती हैं और वह प्रसन्न होकर गाती है।

कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।
"नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो"॥
गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहि बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥ ८॥

शब्दार्थ—अनुसासन (अनुशासन)—आज्ञा। आँचर—अंचल, वस्त्र का एक किनारा।

अर्थ—वयोवृद्धाओं ने कौशल्या को आज्ञा दी कि सिंहासन पर बैठकर (बालक राम का) 'नहछू' कराओ। तब कौशल्याजी रामचंद्र को गोद में लेकर सिंहासन पर बैठीं। दूलह राम के सिर पर माता का अंचल था। इस समय वे परम शोभित हो रहे थे।

टिप्पणी—(१) यहाँ 'बर' या 'दूलह' शब्द से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि श्रीरामचंद्र का विवाह ही होने जा रहा था।

यज्ञोपवीत-संस्कार के अवसर पर भी ये शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं। विवाह और यज्ञोपवीत दोनों में 'बनरे' गाए जाते हैं।

(२) 'जेठि' का अर्थ जेठानी न करके बड़ी-बूढ़ी अर्थ करना अधिक युक्तिसंगत होगा।

नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो।
करि सिँगार अति लोन तौ बिहसति आई हो॥
कनक-चुनिन सोँ लसित नहरनी लिये कर हो।
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥१०॥

शब्दार्थ—लोन (लावण्य)—सुंदर, सलोना।

अर्थ—परम गुणवती नाउन बुलाई गई। वह अत्यंत सुंदर शृंगार करके मुसकराती हुई आई। वह हाथ में सोने के नगों से जड़ी हुई नहरनी लिए हुए है। रामचंद्रजी को वर-वेष में देख उसके हृदय में आनंद नहीं समाता।

टिप्पणी—(१) 'तौ' शब्द यह प्रकट सा करता है कि यदि नाउन गुणशीला है तो उसे तुरंत बुलाया जाय। किंतु इस शब्द का प्रयोग कदाचित् योंही कर दिया गया है; क्योंकि पद-पूर्ति के लिये भी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बीच बीच में ऐसे शब्द सोहर छंद के गाने में यति का काम करते हैं।

(२) रामचंद्रजी को वर-वेष में देखकर नाउन की प्रसन्नता का असीम हो जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि एक तो उसे अधिक नेग मिलने की आशा है और दूसरे महाराज-पुत्र का उत्सव है।

(३) इस छंद में स्वभावोक्ति अलंकार है।

काने कनक-तरीवन, बेसरि सोहइ हो।
गजमुकुता कर हार कंठमनि मोहइ हो॥

कर कंकन, कटि किंकिनि, नूपुर बाजइ हो।
रानी कै दीन्हीं सारी तौ अधिक बिराजइ हो॥११॥

शब्दार्थ—कनक-तरीवन—सोने के करनफूल। बेसरि—नथ।

अर्थ—(उक्त नाउन के) कानों में सोने के करनफूल तथा (नाक में) नथ अत्यंत शोभा देती है। उसके हृदय पर गजमुक्ता की माला तथा गले में मणियों की कंठश्री है, यह सबके चित्त को आकर्षित करती है। उसके हाथों में कंगन (स्त्री का कंकण) और कमर में घुँघरूदार जंजीर (एक आभूषण) है। पैरों में बिछियों की मधुर ध्वनि होती है। रानी की दी हुई सारी पहन लेने पर वह और भी सुंदर लगती है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में आभूषणों का संक्षिप्त और विशेष वर्णन किया गया है।

(२) प्रथम तीन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से स्वभावोक्ति अलंकार है।

काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो॥१२॥

शब्दार्थ—काहे—क्यों। साँवर—सांवले। कीदहुँ—कैधौं, क्या कहीं। भोर परिगा—धोखा हो गया। अहहिं (अस्ति)—हैं। आन क—अन्य के, दूसरे (पिता) के।

अर्थ—(नाउन कहती है—)राम तो साँवले हैं, फिर लक्ष्मणजी गोरे क्यों हैं? रानी कौशल्या को धोखा तो नहीं हो गया? (संभव है, उन्होंने अन्य किसी पुरुष को दशरथ समझ

लिया हो) रामचंद्र तो दशरथजी के पुत्र अवश्य हैं परंतु लक्ष्मण उनके नहीं, वे किसी और के हैं। हाँ, भाई भरत और शत्रुघ्न तो महाराज दशरथ ('श्रीरघुनाथ' से दशरथ का अभिप्राय है) के ही हैं।

टिप्पणी —(१) इस छंद में नाउन, एक एक करके, सब रानियों से परिहास करती है। पहले कौशल्या पर आक्षेप करके कहती है कि रामचंद्र और लक्ष्मण के वर्णों की विभिन्नता इस बात को प्रकट करती है कि रानी कौशल्या को धोखा हो गया; रामचंद्र दशरथ से उत्पन्न नहीं हैं। कदाचित् इस पर रानी सुमित्रा हँस देती हैं और कौशल्या लज्जित हो जाती हैं। नाउन अब कौशल्या को बचाकर सुमित्रा पर विनोद-वर्षा करने लगती है जिसका संकेत तीसरी पंक्ति में मिलता है। परंतु कैकेयी कोपनशील थीं, अतएव उनके क्रुद्ध हो जाने की आशंका थी। कदाचित् वे नीच वर्णवाली मुँहचढ़ी नाउन के परिहास को पसंद न करतीं। उनके इस स्वभाव का परिचय नाउन को था। इसी लिये उसे उनके संबंध में परिहास करने का साहस नहीं होता।

(२) 'श्रीरघुनाथ' शब्द रामचंद्र के लिये नहीं, वरन् दशरथ के लिये प्रयुक्त है। अतएव अंतिम पंक्ति का अर्थ उसी प्रकार है जिस प्रकार ऊपर किया गया है। नीचे दी हुई गोस्वामीजी की पंक्तियों से स्पष्ट है कि भरत और शत्रुघ्न की जोड़ी वैसी ही थी जैसी राम-लक्ष्मण की थी। भरत साँवले और शत्रुघ्न गोरे थे। यह अर्थ शुद्ध नहीं है कि भरत और शत्रुघ्न रामचंद्र के भाई हैं अर्थात् योग्य पिता के पुत्र हैं। ऊपर दिया हुआ अर्थ ही युक्तिसंगत जान पड़ता है।

रामचरितमानस में ही गोस्वामीजी ने कहा है—

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥

भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥

आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभा धाम क हो॥
अति बड़भाग नउनियाँ छुऐ नख हाथ सों हो।
नैनन्ह करति गुमान तौ श्रीरघुनाथ सों हो॥१३॥

शब्दार्थ—सोभाधाम क—शोभाधाम को। गुमान—गर्व, अभिमान।

अर्थ—आज अयोध्यापुरी में आनंद है क्योंकि रामचंद्रजी का नहछू है। चलो, सुंदरता के घर रामचंद्रजी को अच्छे प्रकार देखें और नेत्रों को तृप्त करें। नाउन आज बड़ी भाग्यशालिनी है। वह अपने हाथ से (भगवान्) रामचंद्र के नख छू रही है और नेत्रों द्वारा महाराज दशरथ से अपना गर्व प्रकट करती है।

टिप्पणी—(१) गोस्वामीजी ने प्रथम दो चरणों में सारे जन-मंडल का प्रतिनिधित्व किया है।

(२) दूसरी और तीसरी पंक्तियों में उन्होंने श्रीरामचंद्र को भगवन्मूर्ति माना है और उनके दर्शन को "नयन भरि देखिय" तथा उनके स्पर्श से "अति बड़भाग नउनियाँ" फिर और भी बड़ा भाग्य "छुऐ नख हाथ सों हो" कहा है।

(३) नाउन के नेत्र स्वभावतः चंचल होते हैं, जैसा कि वे स्वयं कह चुके हैं—

"नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।"

किंतु इस स्थान पर उस कार्य को उन्होंने अभिप्रायपूर्ण बना दिया है। अवश्य ही यह कल्पना का चमत्कार है।

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइ हो॥
अतिसय पुहुप क माल राम-उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो॥१४॥

शब्दार्थ—पगु—पद, पैर, पग। पुहुप (पुष्प)—फूल।

अर्थ—जिस चरण को नाउन धो रही है और रामचंद्रजी (सहज ही) धुला रहे हैं, उस पग की धूलि का भी दर्शन केवल सिद्ध तथा मुनि ही पाते हैं। रामचंद्रजी की छाती पर फूलों की माला अत्यंत शोभा पा रही है। उनकी तिरछी दृष्टि और भी मनोमोहक थी। इसी (मुख) आकृति को मुनि लोग नित्य जोहा करते अर्थात् दर्शन चाहते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में निदर्शना अलंकार है।

(२) 'मुनि मुख' में 'मुनि' अलग संज्ञा है। 'मुख' कर्म की अवस्था में और 'मुनि' कर्ता की अवस्था में दोनों की क्रिया जोहना है। 'आनंद' मुख का विशेषण है। यदि 'मुख मुनि' कर लिया जाय तो कोई हानि न होगी और भ्रम भी न होगा। किंतु पाठ उपर्युक्त ही है।

नख काटत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहि हो।
पदुम-पराग-मनि मानहु कोमल गातहि हो॥
जावक रचि क अँगुरियन्ह मृदुल सुठारी हो।
प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो॥१५॥

शब्दार्थ—जावक—महावर। पछालि—धोकर।

अर्थ—रामचंद्रजी नख कटाते समय मुसकराते हैं। उनकी सुंदरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके कोमल

शरीर में पद्मराग मणि के सदृश लाल नख हैं। वह अत्यंत सुकु-मार नाउन उनके चरणों को धोकर अपनी कोमल उँगलियों से महावर लगाती है।

टिप्पणी—(१) छंद के पूर्वार्द्ध में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) 'अँगुरियन्ह' का दूसरा अर्थ 'उँगलियों में' (राम की) भी हो सकता है।

(३) 'कोमल', 'मृदुल' और 'सुकुमारी' तीनों शब्दों का संयोग अति सुंदर और हृदयग्राहक है।

भइ निवछावरि बहु बिधि जो जस लायक हो।
तुलसिदास बलि जाउँ देखि रघुनायक हो॥
राजन दीन्हे हाथी, रानिन्ह हार हो।
भरि गे रतनपदारथ सूप हजार हो॥१६॥

शब्दार्थ—निवछावरि—बालक के सिर पर उतारकर दान देना, उतारा, फेरा। सूप—छाज, पछोरने का पात्र।

अर्थ—जो जिस योग्य था उसने उसी प्रकार राम की न्यौछावर की। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस अवसरवाले स्वरूप को देखकर मैं अपने आपको न्यौछावर करता हूँ। न्यौछावर में राजा ने हाथी और रानियों ने मालाएँ दीं। न्यौछा-वर के पदार्थों से माँगनेवालों के हजारों सूप भर गए।

टिप्पणी—(१) इस छंद में उदात्त अलंकार है।

(२) तुलसीदासजी ने इस अवसर पर 'बलि जाउँ' कहकर दो बातें प्रकट की हैं—(अ) यह अवसर ही एक ऐसा अवसर है जब सभी को यथाशक्ति दान देना चाहिए; (ब) अप्राप्य भगवान् यदि उस स्थिति में प्राप्त हो सकें तो शरीर और धन सभी अर्पण किया जा सकता है।

(३) 'हज़ार' का अर्थ संख्या में एक सहस्र ही नहीं है बल्कि वह उससे भी अधिक संख्या का परिचायक है ।

(४) लोग तर्क कर सकते हैं कि बालक के सिर पर उतार-कर ही सब न्यौछावर होती है, तो राजा ने हाथी कैसे दिया । इस विषय में इतना जानना ही यथेष्ट है कि बिना उतारे भी उस अवसर के उपलक्ष्य में उपहार-स्वरूप या दान-स्वरूप सभी कुछ दिया जा सकता है ।

(५) 'राजन' शब्द का अर्थ यदि एक राजा से होता तो 'राजन्' लिखा जाता, अतः इसका अर्थ राजाओं से है । किंतु इससे पहले यह कहीं भी नहीं बताया गया कि अन्य राजाओं को भी दशरथ ने निमंत्रित किया था अथवा वे स्वयं आए थे, अतः 'राजन' का अर्थ केवल दशरथ से लिया जाना अधिक उचित है । 'न्' को या तो गति के लिये 'न' कर दिया गया है या आदर-प्रदर्शन के लिये बहुवचन कर दिया गया है ।

(६) प्रथम चरण का अर्थ यह भी होता है कि जो जिस योग्य था उसने वैसी न्यौछावर पाई ।

भरि गाड़ी निवछावरि नाऊ लेइ आवइ हो ।
परिजन करहिं निहाल असीसत आवइ हो ॥
तापर करहिं सुमौज बहुत दुख खोवहिं हो ।
होइ सुखी सब लोग अधिक सुख सोवहिं हो ॥१७॥

शब्दार्थ—परिजन—परिवार के लोग । निहाल—प्रसन्न, पूर्णतया संतुष्ट । असीसत—आशीर्वाद देते हुए ।

अर्थ—नाई गाड़ी भर न्यौछावर पा जाता है । रामचंद्रजी के कुटुंबियों ने उसे कृतकृत्य कर दिया है और वह सब पदार्थ लिए हुए, आशीर्वाद देता हुआ, अपने घर आता है । वे यह सुन-

कर आनंद से मस्त हो जाते हैं और अपने दुःख भूल जाते हैं। इस प्रकार सभी लोग बड़े सुख के साथ गहरी नींद लेते हैं।

टिप्पणी—'तापर—उस पर' यह कई अर्थों में प्रयुक्त है। एक तो 'उस नाई पर' जिसे दान मिला है; किंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि आगे 'सुमौज करहिं' का अर्थ 'प्रसन्नता देना' नहीं बल्कि 'प्रसन्न होते हैं' ऐसा है। दूसरा 'नाई के इस कार्य पर' (आशीष देने पर), जो कुछ स्थान-सम्मत है, ठीक प्रतीत होता है। यदि पूर्ववत् ठीक मानें तो फिर भी आगे यह कारण न उपस्थित करना वार्ता में शून्यता लाना होगा कि 'इस आदान-प्रदान में वे अपने दुःख भूल गए और सुख की नींद सोए'। 'सुमौज' का गंगा-जमुनी समास द्रष्टव्य है।

गावहिं सब रनिवास देहिं प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो॥
हिलिमिलि करत सवाँग सभा रसकेलि हो।
नाउनि मन हरषाइ सुगंधन मेलि हो॥१८॥

शब्दार्थ—सवाँग—स्वाँग।

अर्थ—रनिवास की सब स्त्रियाँ गा गाकर श्रीरामचंद्र को गालियाँ देती हैं। गालियाँ सुनकर माता को सम्मुख देख वे सकुचाते हैं। वे सभी हिल-मिलकर स्वाँग रचती हैं, सभा करती हैं और खेल दिखाती हैं। सुगंधों को लगाकर नाउन मन ही मन बड़ी प्रसन्न हो रही है।

टिप्पणी—मजाक के खेल आदि सम्मुख होना और विभिन्न प्रकार के परिहास-गीतों का गाया जाना प्रत्येक नवयुवक को प्रत्युत्तर के लिये बाध्य करते हैं किंतु माता या अन्य किसी

सम्माननीय व्यक्ति के उपस्थित होने से बड़ा संकोच होता है। यहाँ पर गोस्वामीजी ने माता की उपस्थिति का उल्लेख कर एक कटु अनुभव की बात दिखाई है। इस प्रकार का संकोच रामचंद्र के बिल्कुल उपयुक्त है।

दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो।
कोटिन्ह दीन्हेउ दान मेघ जनु बरखइ हो॥
रामलला कर नहछू अति सुख गाइय हो।
जेहि गाये सिधि होय परम निधि पाइय हो॥१८॥

शब्दार्थ—महतारि (मातृ)—माता। बरखइ—बरसे।

अर्थ—दूलह राम की माता इस आमोद-प्रमोद की लीला को देखकर मन में परम प्रसन्न होती हैं और इस प्रकार बहुत सा दान देती हैं, जैसे बादल अधिकता से पानी उलीचते (बरसते) हैं। रामचंद्रजी का यह नहछू अत्यंत सुख से गाइए, क्योंकि इसके गाने से सिद्धि या सफलता और परम निधि अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

टिप्पणी—(१) इस छंद के पूर्वार्द्ध में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार और उत्तरार्द्ध में हेतु अलंकार है।

(२) उत्तरार्द्ध की दोनों पंक्तियाँ इसी खंड-काव्य के प्रथम सोहर छंद की दूसरी और तीसरी पंक्तियाँ हैं। इस स्थान पर इनको दुहराने का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि "देखिए, इसके गाने से (दशरथ की सारी प्रजा ने) बड़ी निधि पा ली; अतः आप भी अवश्य गावें"।

दसरथ राउ सिंहासन बैठि बिराजहिं हो।
तुलसिदास बलि जाहि देखि रघुराजहि हो॥

जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो।
ऋद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो ॥२०॥

शब्दार्थ—राउ—राजा। ऋद्धि—समृद्धि, विभव, भोज्य पदार्थ आदि हाथ से अर्जित वस्तु। सिद्धि—योग से प्राप्त शक्तियाँ। ये ८ हैं—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा दशरथ सिंहासन पर बैठे हैं और रामचंद्रजी को देखकर बलि जाते हैं। (यह एक अनुपम दृश्य है।) जो लोग इस नहछू को स्वयं गाते और गाकर सुनाते हैं वे ऋद्धि, सिद्धि, कल्याण और मोक्ष सभी प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी—(१) 'तुलसिदास' का पहली पंक्ति से कोई सरोकार न रखकर केवल दूसरी पंक्ति से ही संबंध मानकर भी अर्थ निकाला जा सकता है।

(२) अंत की दो पंक्तियों में 'रामलला नहछू' का पठन-पाठन बनाए रखने के लिये उसके फल का वर्णन किया गया है।

बरवै रामायण

बालकांड

केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥ १॥

शब्दार्थ—केस-मुकुत (केशमुक्ता)—बालों में गुँथे हुए मोती। करत उदोत—प्रकाश करने लगते हैं।

प्रसंग—एक सखी जानकीजी के बालों में मोतियों की लड़ गूँथने लगी। गुँथ जाने पर, केशों की श्यामता की आभा से, उज्ज्वल वर्णवाले मोतियों की लड़ मरकत मणि सी प्रतीत हुई। किंतु सखी को यह समझ पड़ा कि उसने भूल से मरकत मणि लगा दी है। अतः उसने फिर निकाल लिया। निकालते ही मोतियों की आभा पूर्ववत् उज्ज्वल दीख पड़ने लगी। उक्त लेख कोई अंतर्कथा नहीं है; कवि के कल्पित दृश्य को स्पष्ट करने के लिये ऐसा किया जाता है। (केशों की श्यामता का आधिक्य बताने के लिये ही यह कल्पना की गई है।) यह किसी सखी का, सीता के प्रति, वाक्य नहीं है वरन् संकेत-मात्र देकर कवि-भाव प्रकट करने की एक प्रणाली है। जैसे—'भक्ति-पीर की औषधि नहीं हो सकती' यह बात कबीर इस प्रकार कहते हैं—

जाहु बैद घर आपने, तेरो कियो न होय।
जाने यह वेदन दियो, टारनहारो सोय॥

अर्थ—एक सखी दूसरी से कहती है कि हे सखी! बालों में गूँथे हुए मोती मरकत मणि (से) हो जाते हैं और हाथ में ले लेने पर फिर मोती ही की भाँति चमकने लगते हैं।

टिप्पणी—(१) मरकत मणि—पन्ना। यह हरे रंग की मणि होती है। काले केशों की कालिमा और अंग की द्युति के कारण मोती का मरकत मणि प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। पुनः सखी का उन्हें निकाल लेना यह प्रकट करता है कि वह हरित मोती तथा मणि में कोई अंतर न निकाल सकी। केशों की अत्यंत श्यामता का यही प्रमाण है।

(२) इस छंद में तद्गुण अलंकार है।

(३) बरवै रामायण सीताजी के स्वरूप-वर्णन से आरंभ होती है।

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय-अंग, सखि! कोमल, कनक कठोर॥ २॥

शब्दार्थ—सुबरन (सुवर्ण) सोना, सुंदर रंग। सुखमाकर (सुषमाकर) शोभा की खानि। न थोर—बहुत। कनक—सोना।

अर्थ—एक सखी दूसरी से कह रही है कि हे सखी, सीताजी का शरीर सोने के रंग के समान है। वह स्वर्ण की भाँति, शोभा की खानि और अत्यधिक सुख देनेवाला है। किंतु सोना कठोर वस्तु है और सीताजी तो बड़ी ही कोमल हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में सीताजी के अंग की उपमा सोने से दी गई है। दोनों में वर्ण-सौंदर्य तथा मनोमोहकता के विशेष और समान गुण हैं। किंतु स्वर्ण की हेयता पाई जाती है; क्योंकि वह कठोर और सीताजी कोमल हैं। यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

(२) 'सम सुबरन सुखमाकर सुखद' तथा 'कोमल कनक कठोर' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार और 'सुबरन' में श्लेष है।

सियमुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि-दिन यह बिगसाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सरदकमल—शरद् ऋतु में तालाब परिपूर्ण होते हैं और स्वच्छ आकाश से सूर्य का विमल प्रकाश कमल को मिलने लगता है। उस समय उसकी सुंदरता बहुत बढ़ जाती है। विगसाइ—विकसित (प्रफुल्लित) होता है।

अर्थ—यह कैसे कहा जाय कि सीताजी का मुख शरत्-कमल के समान है। कमल तो रात्रि में संकुचित हो जाता है किंतु सीताजी का मुख रात-दिन प्रफुल्लित बना रहता है।

टिप्पणी—(१) कमल रात्रि में संकुचित हो जाता है, यह उसकी अपूर्णता है। किंतु सीताजी का मुख सदा ही प्रसन्न और प्रफुल्लित रहता है।

(२) कमल को विकसित होने के लिये सूर्य-किरणों की आवश्यकता होती है किंतु 'सियमुख' इसके लिये किसी का सहारा नहीं ढूँढ़ता।

(३) कमल की प्रीति एकांगी है। वह सूर्य से प्रेम करता है किंतु सूर्य अपने इच्छानुसार, बिना कमल का ध्यान रखे हुए ही चला जाता है परंतु श्रीरामचंद्र (रघुकुलसूर्य) सीता के प्रेम को पूर्ण किए रहते हैं।—यह टिप्पणी इस स्थान पर इसलिये उचित नहीं है कि यहाँ पर अब तक नखशिख-वर्णन के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रसंग सम्मुख नहीं है। यहाँ तो इतना ही कहना है कि सीताजी का मुख उज्ज्वल, लालिमायुक्त और प्रफुल्ल रहता है।

(४) इस छंद में व्यतिरेक अलंकार है।

बड़े नयन, कटि, भ्रुकुटी, भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहि मनोहर बाल ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कटि—(१) कमर, लंक; (२) टेढ़ी। बाल—(१) बालिका; (२) केश।

अर्थ—(१) तुलसीदासजी कहते हैं कि सीताजी के नेत्र विशाल हैं, भौंहें (धनुष की भाँति) टेढ़ी हैं और मस्तक चौड़ा है। (इस प्रकार पूर्णांगी) बालिका (सीता) मन को मोहने-वाली है।

(२) तुलसीदासजी कहते हैं कि सुंदर बाल, बड़े नेत्र, कमर, भौं और उन्नत मस्तक मन मोहते हैं।

टिप्पणी—इस छंद में परिकर अलंकार और 'मोहत मनहि मनोहर' में वृत्त्यनुप्रास है। प्रथम अर्थ के लिये अर्ध विराम कटि के बाद न होगा।

चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय-हियरे जब कुँभिलाइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चंपक—चंपा का फूल। हरवा—हार, माला। हियरे—हृदय पर।

अर्थ—सीताजी जो चंपा की माला पहने हैं वह उनके अंग के रंग के समान होकर बड़ी भली लगती है। (दोनों का एक ही रंग है।) वह तभी जान पड़ती है जब कुम्हला जाती है।

टिप्पणी—इस छंद में उन्मीलित अलंकार है। गोसाईंजी ने इसमें केवल अपनी उक्ति द्वारा यह प्रकट किया है कि सीताजी का वर्ण पीत-मिश्रित गौर है।

सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावैं चंपक होत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बेलि—लता, बेला। तुव (तव)—तुम्हारा।

अर्थ—(१) उपर्युक्त बातें सुनकर सीताजी उनसे पूछती हैं—"क्या कह रही हो ?" तब एक सखी कहती है—हे सीते ! तुम्हारे अंग के रंग में मिलकर हार अधिक शोभित हो जाता है। हम बेला का हार पहनाती हैं पर वह चंपे के हार के समान सुशोभित होता है।

(२) सखियाँ कहती हैं कि तुम्हारे अंग के रंग में मिलने से चंपा का हार अधिक खिलता है। तुम्हें चंपा का हार पहनाती हैं तो तुम्हारे शरीर की आभा चंपकलता सी मालूम होती है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में तद्गुण अलंकार है।

(२) द्वितीय अर्थ में कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता*। किंतु प्रथम अर्थ से छंद में हमें ५वें छंद से कुछ विभिन्नता मिलती है अतः प्रथम अर्थ अधिक समीचीन है।

साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव।
राम नीतिरत, काम कहा यह पाव ? ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—काम—कामदेव।

अर्थ—गोसाईंजी इस बरवै में राम (उपमेय) द्वारा कामदेव (उपमान) को हेय ठहराने का प्रयत्न करते हैं। श्रीरामचंद्र साधु-प्रकृति हैं, सुशील हैं, सुंदर मतिवाले हैं, सीधे स्वभाववाले हैं और न्याय में तत्पर रहते हैं। केवल रूप-सादृश्य के कारण कामदेव इनकी समता कैसे कर सकता है ? (क्योंकि वह असाधु, दुःशील, दुर्बुद्धि और पापी है।)

टिप्पणी—(१) इस छंद में गोसाईंजी ने राम को रूप तथा गुणों में वैसे ही सर्वश्रेष्ठ कहा है जैसे कि दूसरे बरवै में सीताजी को। दोनों छंदों की प्रथम पंक्तियों में स और सु की आवृत्ति ध्यान देने योग्य है।

(२) इस बरवै में प्रतीप अलंकार है।

(३) प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास भी है।

कुंकुमतिलक भाल, स्रुति कुंडल लोल।
काकपच्छ मिलि, सखि! कस लसत कपोल॥ ८॥

शब्दार्थ—कुंकुम—केशर। स्रुति (श्रुति)—कान। लोल—सुंदर, चंचल। काकपच्छ—घुँघराले केश। कस—कैसे। लसत—शोभा पाते हैं।

अर्थ—श्रीरामचंद्र के मस्तक पर केशर का तिलक और कानों में सुंदर कुंडल शोभायमान हैं। घुँघराले बाल कपोलों पर लटककर कैसे सुशोभित होते हैं।

टिप्पणी—इस छंद में स्वभावोक्ति और छेकानुप्रास दोनों अलंकार हैं।

भाल तिलक सिर, सोहत भौंह कमान।
मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥ ९॥

शब्दार्थ—सर (शर)—बाण। अनुहरिया—अनुसरण करनेवाली, एक आकृतिवाली।

अर्थ—ललाट पर तिलक तो बाण के समान और भौंहें धनुष के समान शोभित हैं। रामचंद्रजी की मुखाकृति की समता करनेवाली केवल चंद्रमा के समान कोई वस्तु हो सकती है।

टिप्पणी—(१) इस स्थान पर गोसाईंजी गोलाई में अथवा ज्योत्स्ना में प्रत्यक्ष रूप से चंद्रमा की भी समता न दे सके। उन्होंने उसे कलंकी समझकर ही कदाचित् ऐसा किया है। किंतु यदि कोई समता कर सकता है तो केवल चंद्रमा ही। तात्पर्य यह कि उनका मुख अनुपम है।

(२) इस छंद में उपमा अलंकार है।

तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसुकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि॥१०॥

शब्दार्थ—बंक—तिरछी। बिलोकनि—चितवन।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचंद्रजी की चितवन तिरछी और मुसक्यान मीठी है। (उनके नेत्र बड़े ही सुंदर हैं।) मैं यह कैसे कह दूँ कि उनके नेत्र कमल के समान हैं?

भावार्थ—उनके नेत्र कमल-कली के आकार के अवश्य हैं परंतु साथ ही उनमें जो सजीवता तथा भय का हरण करनेवाली और शीतलता प्रदान करनेवाली शक्ति है वह कलियों में नहीं मिल सकती।

टिप्पणी—(१) 'बंक बिलोकनि' और 'मृदु मुसुकानि' में छेकानुप्रास है।

(२) 'नयन कमल' में रूपक अलंकार है

(३) इस छंद में प्रतीप अलंकार भी है।

कामरूप सम तुलसी रामसरूप।
को कबि समसरि करै परै भवकूप॥११॥

शब्दार्थ—समसरि—बराबरी। भवकूप—संसाररूपी कुँआ।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामचंद्र के रूप की समता कामदेव कर सकता है, यह कहकर कौन कवि भवसागर में पड़ेगा अर्थात् इस प्रकार तुलसी के इष्टदेव का अपमान करके पाप का भागी बनेगा।

टिप्पणी—इस छंद में प्रतीप अलंकार है।

चढ़त दसा यह उतरत जात निदान।
कहौं न कबहूँ करकस भौंह कमान॥१२॥

शब्दार्थ—चढ़त दसा—उन्नत दशा में। उतरत जात—शिथिल होती जाती है। निदान—अंत में। करकस(कर्कश)—कठोर।

अर्थ—श्रीरामचंद्र की भौंहें सदा उन्नत दशा में रहती हैं; धनुष के समान केवल अवसर पाकर न तो चढ़ जाती और न तदनंतर शिथिल हो जाती हैं। अस्तु, श्रीरामचंद्र की कोमल भ्रुकुटियाँ कठोर कमान (धनुष) के समान हैं, ऐसा मैं कभी न कहूँगा।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में गोसाईंजी ने या तो भ्रुकुटी के लिये दिए जानेवाले उपमान धनुष को हेय बताया है या कामदेव के धनुष को हेय बताया है। यह दूसरा संबंध पूर्व के छंद के कारण उत्पन्न होता है। इस संबंध से छंद का आशय यह होता है—श्रीरामचंद्र की भौंहें उनकी अवस्था के साथ साथ उन्नत होती जाती हैं और उससे सज्जनों को सुख प्राप्त होता है। किंतु कामदेव का धनुष संयोग पाकर चढ़ता है, पर अंत में शिथिल पड़ जाता है; फिर वह सज्जनों को दुःखदायी है। अतः कामदेव के धनुष से मैं श्रीरामचंद्र की भौंहों की समानता नहीं स्वीकार कर सकता।

(२) इस छंद में व्यतिरेक अलंकार है।

(३) यहाँ तक १२ छंदों में केवल सीता और राम के शरीर का ही वर्णन किया गया है। उन्होंने अपने आराध्य देव और देवी का बराबर वर्णन देकर बराबरी सिद्ध करने की चेष्टा की है। प्रायः सभी छंदों में उन्हें अनुपमेय सिद्ध किया है। गोस्वामीजी ने सीताजी के रूप का वर्णन रामायण में विशेष रूप से नहीं किया। रामचंद्रजी ने उन्हें देखा—

सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥

रामचंद्र ने चंद्रमा को देखा और विचार किया—

जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंकु।
सिय-मुख-समता पाव किमि चंद बापुरो रंकु॥

राजसभा में राजा लोगों ने सीताजी को देखा—

जौं छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम-रूप-मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथइ पानिपंकज निज मारू॥
× × × × ×
सोह नवलतनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि-भारी॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये।..............................॥

अन्य स्थानों में भी गोसाईंजी ने बरवै रामायण की भाँति सीताजी का वर्णन नहीं किया।

रामचंद्रजी का वर्णन स्थान स्थान पर उन्होंने दिया है। इस स्थान पर उक्त छंदों से मिलता हुआ या कुछ भिन्न विवाह-स्थान अथवा धनुषयज्ञ के समय का वर्णन दिया जाता है—

भालतिलक श्रमबिंदु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छबि छाये॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे॥
× × × × ×
कल कपोल श्रुतिकुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुद-बंधु-कर निंदक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं॥
× × × × ×
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन-मयंक ताप-त्रय-मोचन॥
कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहिं चोर जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक-रेख-सोभा जनु चाकी॥
× × × × ×
काम-कोटि-छबि स्याम सरीरा। नील-कंज-बारिद गंभीरा॥
अरुन-चरन-पंकज नखजोती। कमल-दलन्हि बैठे जनु मोती॥

इसी प्रकार और भी बहुत है। पाठक स्वयं 'मानस' में देख लें। जानकी-मंगल में गोस्वामीजी ने लिखा है—

काकपच्छ सिर, सुभग सरोरुहलोचन।
गौर स्याम सत-कोटि काम-मद-मोचन॥ ४६॥
तिलक ललित सर, भ्रुकुटी काम-कमानै।
स्रवन विभूषन रुचिर, देखि मन मानै॥ ४७॥
नासा चिबुक कपोल अधर रद सुंदर।
बदन सरद-बिधु-निंदक सहज मनोहर॥ ४८॥

कवितावली में इसी से कुछ मिलता हुआ उल्लेख यों है—

बर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै, छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघुरारी लटैं लटकैं सिर ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

पाठकवृंद उक्त वर्णनों में से बरवै छंदों के अनुहारी स्वयं ढूँढ़ लें।

नित्य नेम-कृत अरुन उदय जब कीन।
निरखि निसाकर-नृप-मुख भये मलीन॥ १२॥

शब्दार्थ—नित्य नेम-कृत—दैनिक क्रिया करके। अरुण—सूर्य का सारथी। यहाँ सूर्य से संकेत है। निसाकर-नृप-मुख—चंद्रमा के समान अन्य राजाओं के मुख।

अर्थ—(इस छंद से गोसाईंजी ने सातों कांडों का वर्णन प्रारंभ किया है। जब रामचंद्रजी जनकपुर गए हैं तब का यह वर्णन है।) श्रीरामचंद्र नित्यक्रिया समाप्त करके सूर्य के समान जिस समय मंच पर आ बैठे उस समय (अंधकार में चमकनेवाले) चंद्ररूप सारे राजाओं के मुख मलिन हो गए।

टिप्पणी—(१) इस छंद में रामचंद्रजी के तेज की तुलना सूर्य के तेज से की है।

(२) उक्त छंद से साधारणतः ही यह भाव निकलता है कि राजाओं के हृदय, धनुष तोड़ने के लिये राम को पूर्ण समर्थ देखकर, निस्साहस हो गए।

(३) राजाओं को 'निसाकर' इस अभिप्राय से कहा गया है कि वे अपने बलरूपी चंद्रमुख के प्रकाश से धनुषभंग-रूपी अंधकार दूर करना चाहते हैं किंतु वे सफल न हो सके और उन्हें जैसे ही सूर्य-सदृश शक्तिमान् रामचंद्रजी का मुख दीख पड़ा, वे लज्जित और निस्साहस हो गए।

तुलसीदासजी ने इसी भाव को, अधिक भले प्रकार, 'मानस' में यों प्रकट किया है—

अरुन उदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन॥
नृप सब नखत करहिं उँजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा-अवसाना॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे॥

इसी को 'धनुषभंग' के कुछ ही पूर्व तुलसीदासजी ने फिर दिखाया है—

उदित उदय-गिरि-मंच पर रघुबर बालपतंग।
बिगसे संतसरोज सब हरषे लोचन भृंग॥
नृपन्ह केरि आसा-निसि नासी। बचन नखतअवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥

(४) प्रथम पंक्ति में उपमेयधर्मलुप्ता उपमा और दूसरी पंक्ति में अभेद रूपक है।

कमठ पीठ धनु सजनी कठिन अँदेस।
तमकि ताहि ए तोरिहि कहब महेस॥ १४॥

शब्दार्थ—कमठ—कछुआ। सजनी—सखी। अँदेस—संदेह। तोरिहिं—तोड़ेंगे।

अर्थ—(धनुष की कठोरता और श्रीरामचंद्र की किशोरता का विचार करके सखियाँ आपस में कहती हैं—) हे सखी, शिवजी का धनुष कछुए की पीठ की भाँति कठोर है। यह बड़ा भारी संदेह होता है कि रामचंद्रजी किसी प्रकार के भी धक्के या दूसरी चतुरता से तोड़ न सकेंगे। अस्तु, भगवान् शिव से प्रार्थना करें, जिससे रामचंद्रजी इस धनुष को तमककर तोड़ दें। प्रार्थना है कि शिवजी अपने धनुष को हलका कर दें।

टिप्पणी—(१) अर्थ में 'तमकि ताहि ए॰तोरिहि' शिवजी की प्रार्थना में लगाया गया है। यह अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है।

(२) 'तमकि ताहि ए तोरिहि' में वृत्त्यनुप्रास है।

(३) गोस्वामीजी ने जानकी-मंगल में कहा है—

पारबती-मन सरिस अचल धनुचालक।
हहिं पुरारि तेउ एक-नारि-व्रत-पालक ॥ १०४ ॥
सो धनु कहिं अवलोकन भूपकिसोरहि।
भेद कि सिरिस-सुमन-कन कुलिस कठोरहि ॥ १०५ ॥

इसी प्रकार का भाव लेकर 'मानस' में भी गोसाईंजी ने लिखा है—

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं ॥
मनही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी ॥
करहु सुफल आपन सेवकाई। कर हित हरहु चाप-गरुआई ॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ॥

विधि केहि भाँति धरै उर धीरा। सिरिस-सुमन-कन बेधिअ हीरा॥
सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभु-चाप गति तोरी॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी॥

नृप निरास भये निरखत नगर उदास।
धनुष तोरि हरि सब कर हरेउ हरास॥ १५॥

शब्दार्थ—नृप—राजा जनक। नगर—प्रजावर्ग। हरास—दुःख।

अर्थ—(धनुष न टूटने के कारण) अपनी प्रजा को उदास देखकर राजा जनक भी निराश हो गए। उसी समय श्रीरामचंद्र ने धनुष को तोड़कर सबका क्लेश दूर किया।

टिप्पणी—(१) इस छंद में छेकानुप्रास अलंकार है।

(२) छंद के पूर्वार्द्ध का चित्र गोसाईंजी ने मानस में निम्नांकित रूप से दिया है—(जनक-वाक्य)

कुँअरि मनोहरि, बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय॥
कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकर-चाप चढ़ावा॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहिबिआहू॥
सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥

जानकी-मंगल में—

देखि सपुर परिवार जनकहिय हारेउ।
नृप समाज जनु तुहिन बनजबन मारेउ॥

(३) इस छंद का पूर्वार्द्ध यह अर्थ भी रखता है—'राजा जनक उदास और निराश हो गए हैं; अतः गाँव तथा समाज के सभी लोग, उन्हें देखकर व्याकुल हो उठे।'

उक्त अर्थ भी ठीक है। इसके प्रमाण में तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—

जनकबचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥

(४) उत्तरार्द्ध दृश्य का वर्णन भी गोसाईंजी ने बरवै रामायण और रामचरित मानस में उसी भाँति किया है; यथा—

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥

का घूँघट मुख मूँदहु नबला नारि?
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि॥ १६॥

शब्दार्थ—नबला (नवला)—नवोढ़ा। सरग (स्वर्ग)—आकाश। अनुहारि = समता का।

अर्थ—(श्रीरामचंद्र आदि चारों भाइयों के, ब्याह करके, आ जाने पर अंतःपुर की स्त्रियाँ नवागत वधुओं से कहती हैं—) हे नवीन वधुओ! मुख को घूँघट से क्यों छिपाती हो? तुम्हारे मुखों के समान सुंदर चंद्रमा (इतने ऊँचे पर है कि सब लोग देख सकें) आकाश में सुशोभित है।

भाव यह कि जिस प्रकार चंद्रमा सभी को दर्शन देकर प्रसन्न करता है उसी प्रकार तुम भी अपना दर्शन देकर सबको प्रसन्न करो।

टिप्पणी—(१) इस पद्य का द्वितीय अर्थ यों भी कर सकते हैं—'तुम्हारे मुख छिपाने से क्या होगा? तुम्हारे मुख के सदृश आकृतिवाले चंद्रमा को तो हम प्रत्यक्ष देख सकती हैं।'

(२) इस छंद में प्रतीप अलंकार और छेकानुप्रास भी है।

गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय. कै छाँह॥ १७॥

अर्थ—(अंतःपुर की बात है। एक सखी श्रीरामचंद्र से कहती है—) हे रामचंद्रजी! मन में अपने सुंदर रूप का

कहीं गर्व न करना। अपनी मूर्ति को देखो, वह तो सीताजी के रूप की छाया मात्र है (अर्थात् तुम्हारा रूप और उनकी छाया एक सी है। दोनों ही श्याम हैं)।

टिप्पणी—(१) इस छंद के उत्तरार्द्ध का अर्थ, गौण रूप से, यह भी लगाया जाता है—'सीताजी की छाया इतनी उज्ज्वल है कि उसमें आप अपनी मूर्ति देख सकते हैं।'

(दर्पण में मूर्ति दिखलाई देती है। इसी प्रकार सीताजी की छाया (जो तनिक अस्पष्ट और काली सी होती है) इतनी उज्ज्वल है कि उसमें श्रीरामचंद्र अपना मुख देख सकते हैं।)

इस प्रकार के अर्थ में लोगों को अवश्य संदेह होगा किंतु यहाँ पर उक्ति यह है कि छाया भी काली है और राम भी काले हैं, अतः वे छाया में अपनी मूर्ति देखेंगे। साथ ही यह भी कि सीताजी का वर्ण अपनी छाया से अच्छा ही होगा और अधिक सुंदर होगा अतः रामचंद्रजी से वे कहीं सुंदर होंगी। छाया भूमि पर होगी अतः राम का स्वरूप सखी ने अत्यंत निकृष्ट सा करके बताया है। इस रचना में अवश्य ही चमत्कार है।

(२) इस छंद में प्रतीप अलंकार है।

(३) इस छंद द्वारा यह भी प्रकट किया गया है कि "चूँकि रामचंद्रजी संसार में सबसे सुंदर हैं और सीताजी उनसे भी अधिक सुंदर हैं, अतः लोग पहले सीताजी का सम्मान सर्वश्रेष्ठ देवी की भाँति करेंगे, बाद में आपका देवता की भाँति।" किंतु यह अर्थ कल्पना-प्रसूत है और काव्य में अधिक महत्त्व नहीं रखता।

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनीदे नैन ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—मिस—ब्याज, बहाना। मृदु—मीठे, मधुर। उनींदे—नींद से भरे हुए। आलस्य और मादकता से युक्त, सोने की इच्छावाले, नेत्रों की ओर संकेत है।

अर्थ—"अब सीता और रामचंद्र के नेत्र नींद के वश हुए हैं (अर्थात् ऊँघते हैं, इन्हें सोने दो)"। ऐसा मधुर वचन हँसी के साथ कहकर, किसी काम का बहाना करके, वह सखी चली गई।

टिप्पणी—(१) ऐसा कहकर सखी भीड़ हटाना चाहती है। दांपत्य प्रेम उत्पन्न करने के मार्गों में पति-पत्नी को एक साथ एकांत में रखना मुख्य साधनों में से एक है।

(२) इस छंद में पर्य्यायोक्ति अलंकार है। इसके प्रयोग द्वारा कवि ने प्रसंग के शील की रक्षा की है।

सींक धनुष, हित सिखन, सकुचि प्रभु लीन।
मुदित माँगि इक धनुही नृप हँसि दीन॥ १८॥

शब्दार्थ—सींक—झाड़ू का एक तिनका।

अर्थ—प्रभु श्रीरामचंद्र ने एक दिन बड़े संकोच के साथ सीखने के लिये एक सींक का धनुष लिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने एक छोटा सा धनुष मँगवाकर हँसते हुए दिया।

टिप्पणी—(१) श्रीरामचंद्र धनुर्विद्या-विशारद हो चुके थे। उन्हें कुछ सीखना शेष नहीं था। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा में राक्षसों का वध करके उन्होंने अपने अस्त्र-कौशल का परिचय दे दिया था; शिवजी का धनुष तोड़ा था और परशुरामजी का धनुष चढ़ाया था। अतः उन्होंने यह सोचकर कि अब विलास के दिन छोड़ना चाहिए, फिर अस्त्र-विद्या का अभ्यास करने की इच्छा की होगी

तथा किसी प्रकार का धनुष न पा सकने पर या बिना कहे ही पा जाने की इच्छा से सींक का धनुष उठाया होगा; किंतु यह सोचकर कि मेरे पूर्व-पराक्रम का विचार करके लोग क्या कहेंगे, इस कार्य को करते हुए उन्हें बड़ा संकोच हुआ होगा, विशेषकर भवनों में स्त्रियों द्वारा मखौल उड़ाए जाने की विशेष संभावना से ऐसा और अधिक हुआ होगा।

पुत्र को फिर क्षात्र-वृत्ति की ओर झुकते देखकर राजा दशरथ को प्रसन्नता हुई होगी और उनको उत्साहित करने के विचार से उन्होंने 'धनुही' मँगाकर दी होगी।

किंतु धनुष न देकर 'धनुही' देना एक विचारणीय विषय है। संभव है, उन्होंने इस स्थान पर रामचंद्र को यह सूचित करना चाहा हो कि वे उनके लिये अब भी बालक ही हैं और इसी दुलार के लिये उन्होंने हँस भी दिया हो।

(२) अधिक संभव है कि गोसाईंजी का बरवै रामायण कोई बड़ा ग्रंथ रहा हो और उक्त छंद उस ग्रंथ में रामचंद्र के बाल्यकाल के प्रसंग में विरचित हुआ हो। यह इस बात का प्रमाण अवश्य है कि ग्रंथ प्रायः सभी छोटे अंगों से भी परिपूर्ण रहा होगा। पीछे से, संग्रह के समय, छंदों का इधर-उधर हो जाना असंभव नहीं।

अयोध्याकांड

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूछहु सुठि राउर सरल सुभाउ॥ २०॥

शब्दार्थ—बनाउ— अभिषेक की तैयारी। सुठि-सरल—बहुत ही सीधा। राउर—आपका।

अर्थ—(कैकेयी के पूछने पर मंथरा उत्तर देती है—) "आप क्या पूछती हैं? राम के अभिषेक की तैयारी होते सात दिन हो गए। आपका तो सीधा और भोला स्वभाव है!"

टिप्पणी—(१) इस छंद में 'स' का वृत्त्यनुप्रास है।

(२) उपर्युक्त छंद में व्यंजना का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। यह कथन अधिकार की भावना जागरित करने का अनोखा साधन है। 'का पूछहु' की कर्कशता और 'सुठि राउर सरल सुभाउ' से मधुर भाषण के साथ कैकेयी को उसकी निर्बलता बताना ध्यान देने योग्य बात है।

(३) जिस प्रकार बालकांड अनूठे ढंग से प्रारंभ किया जाकर समाप्त किया गया, उसी प्रकार अयोध्याकांड भी सहसा प्रारंभ हो गया। या तो सारे बरवै फुटकल पद्धति पर रचे गए हैं अथवा बीच के अनेक बरवै-रत्न खो गए।

(४) मिलाइए—

का पूँछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित-अनहित पसु पहिचाना॥
भयेउ पाष दिनु सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥

('मानस')

राजभवन सुख बिलसत सिय सँग राम।
बिपिन चले तजि राज, सुबिधि बड़ बाम॥ २१॥

शब्दार्थ—बिधि (विधि)—ब्रह्मा, भाग्य। बाम—टेढ़ा, प्रतिकूल।

अर्थ—रामचंद्रजी राजमहलों में सीताजी सहित सुख और विलास के साथ निवास कर रहे थे (अर्थात् संसार के सारे दुःखों को भूल से गए थे)। किंतु अच्छे भाग्य के नितांत प्रतिकूल हो जाने पर (अथवा ब्रह्मा के उलटे हो जाने पर) वे राज्य छोड़कर वन को चल पड़े।

टिप्पणी—(१) उत्तरार्द्ध का अर्थ यह भी हो सकता है—राज्य, सौभाग्य (भोजन आदि सब सुखों) और अपनी माताओं (बड़ी वामाओं) को छोड़कर वन को चल पड़े।

(२) इसी को गोस्वामीजी ने कवितावली में बड़े कारुणिक शब्दों में कहा है—

'कीर के कागर ज्यौं नृपचीर विभूषन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यौं, पंथ के साथी ज्यौं लोग-लुगाई ॥'

× × × ×

'मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई।'

× × × ×

'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥'

(३) इस छंद में स, ज और ब का वृत्त्यनुप्रास है।

कोउ कह नरनारायन, हरिहर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ ॥२२॥

शब्दार्थ—हरि—विष्णु। हर—महादेव। बिहरत—घूमते हैं। मधु—वसंत। मनसिज—कामदेव।

अर्थ—(राम-लक्ष्मण का अपूर्व सौंदर्य देखकर मार्ग में पड़नेवाले ग्रामों के निवासियों की कोमल वृत्तियाँ जाग उठती हैं। उनके विषय में वे अनेक उत्प्रेक्षाएँ करते हैं।) कोई कहता है कि (रामचंद्र और लक्ष्मण) नर और नारायण (दोनों) हैं; कोई (उन्हें साक्षात् रूप में) विष्णु और महादेव बताता है और कोई कहता है कि वसंत और कामदेव (ये दोनों परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं) वन में विहार कर रहे हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में भ्रम अलंकार और छेकानुप्रास है।

(२) इस बरवै की तुलना निम्नांकित से कीजिए—

(अ) देखि ! द्वै पथिक गोरे साँवरे सुभग हैं।
सुतिय सलोनी संग सोहत सुमग हैं॥
रूप सोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं।
मुनिबेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं॥

(आ) स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन ।
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति उपमा कहुँ कोऊ है न॥
मानहुँ रति ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाये है मैन॥

× × × ×

तुलना करने से स्पष्ट विदित होता है कि गोस्वामीजी ने वन-वास में राम और लक्ष्मण के साथ ही सीताजी का भी वर्णन किया है। किंतु उक्त छंद से यह किसी प्रकार प्रकट नहीं होता कि सीताजी भी उनके साथ हैं। किंतु बरवै रामायण के अरण्य-कांड में सीताजी के साथ राम का रहना प्रकट किया है। अत-एव इस छंद से भ्रम में न पड़ना चाहिए।

(इ) गीतावली में गोसाईंजी लिखते हैं—

ऐ कौन कहाँ ते आये ?
नील-पीत-पाथोज-बरन, मनहरन सुभाय सुहाये॥
मुनिसुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्मजीव जग जाये।
किधौं रवि-सुवन, मदन, ऋतुपति, किधौं हरिहर बेष बनाये॥
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाये॥

× × × ×

(ई) की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नरनारायन की तुम्ह दोऊ॥
('मानस', किष्किंधाकांड)

(३) संभव है, यह छंद गोसाईंजी ने बालकांड में ही लिखा हो; किंतु उन्होंने किसी ग्रंथ में प्रथम वनवास में जन-कथा का

वर्णन ही नहीं किया। अतः यह किष्किंधाकांड के अंतर्गत होना चाहिए। परंतु यदि हम कल्पना कर लें कि वे प्रथम युग्म में माया, दूसरे में लक्ष्मी और तीसरे में रति हैं, तो अवश्य ही यह छंद अपने स्थान पर उचित और सुसंगत होगा।

तुलसी भइ मति बिथकित करि अनुमान।
राम लषन के रूप न देखेउ आन ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—भई—हुई। विथकित—शिथिल।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि उपमा सोचते सोचते बुद्धि थक गई या शिथिल हो गई। राम और लक्ष्मण के से रूपवाला मुझे कोई नहीं देख पड़ता, अर्थात् उनकी उपमा के योग्य कोई नहीं है, वे दोनों स्वय सर्वश्रेष्ठ हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में राम-लक्ष्मण के रूप का ही वर्णन किया गया है। किंतु इसके पूर्व के छंद में श्रीरामचंद्र और लक्ष्मण के लिये 'मधु-मनसिज दोउ' होने के तर्क के बाद उनके रूप-वर्णन के लिये फिर भी प्रयास करना व्यर्थ सा है; क्योंकि उसी छंद में उन्हें गुण में हरि-हर तथा कार्य में नर-नारायण बना दिया गया है। जब वे अलौकिक हो ही चुके तो फिर अलौकिक बनाने की क्या आवश्यकता? अतः यदि यह छंद बरवै रामायण में बाल-कांड के अंतर्गत ही होता तो अधिक उपयुक्त था; किंतु वहाँ सीता और रामचंद्र दोनों की प्रशंसा समान संख्या के छंदों में की गई है। उसमें लक्ष्मणजी का कोई वर्णन नहीं है। अतः इस छंद को वहाँ रखने में संग्रहकर्ता को अवश्य संकोच करना चाहिए था। ऐसा करने से बरवै रामायण संक्षिप्त रामायण कहा जाता और ऐसे दोषों को फिर यह कहकर न गिना जाता कि तुलसी-कृत क्रम प्राप्य नहीं है।

(२) इस छंद में अनन्वयोपमा अलंकार है। यद्यपि स्पष्ट रूप से राम-लक्ष्मण को राम-लक्ष्मण का उपमान नहीं बनाया गया है, परंतु भाव यही है।

तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगानाँग करि नितहिं नचाइहि नाच ॥२४॥

शब्दार्थ—निगानांग—नंग-धड़ंग।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि (हे रामचंद्रजी,) मैं सत्य कहता हूँ कि (आप) गंगा में पैर न रखें; (नहीं तो यह आपको) नंग-धड़ंग करके नित्य नचाया करेगी।

टिप्पणी—(१) इस छंद का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—"(केवट श्रीरामचंद्र से कहता है—) मैं सत्य कहता हूँ, आप (नाव पर चढ़ने के लिये) गंगा में पैर न रखें; नहीं तो (आपके चरणस्पर्श से यदि यह भी अहल्या की भाँति स्त्री-रूप हो गई तो) मेरी स्त्री मुझे नित्य परेशान किया करेगी।" इस प्रसंग पर गोस्वामीजी ने कवितावली में यों लिखा है—

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ?॥
तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।

× × × ×

छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट परै मोरि नाव उड़ाई॥
एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानौं कछु और कबारू॥
('मानस')

किंतु जो चमत्कार गोसाईंजी ने उक्त छोटे से छंद में दिखाया है वह उनके अन्य ग्रंथों के वर्णन में नहीं पाया जाता।

(२) इस छंद में व्याजस्तुति और वृत्त्यनुप्रास अलंकार हैं; साथ ही साथ पर्य्यायोक्ति भी है।

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।

चढ़हु नाव पग धोइ करहु जनि बाद॥ २५॥

शब्दार्थ—सजल—जल से भरा हुआ। बाद—विवाद।

अर्थ—हाथ में जलभरा कठौता उठाकर निषाद श्री-रामचंद्र से कहता है कि आप पैर धोकर नाव पर चढ़िए, व्यर्थ विवाद न कीजिए।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद को इनसे मिलाए—

बरु मारिये मोहिँ, बिना पग धोये हौं, नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।

(कवितावली)

बरु तीर मारहु लखनु पै जब लगि न पायँ पखारिहौं।

तब लगि न तुलसीदास-नाथ कृपालु पारु उतारिहौं॥

(२) 'करहु जनि बाद' यह कुछ कठोर वार्ता प्रतीत होती है। अन्य ग्रंथों में गोस्वामीजी ने यही कथन नम्रता और प्रार्थना के साथ संपादित कराया है। (देखिए कवितावली, अयोध्याकांड, छंद ८)

कमल कंटकित सजनी, कोमल पाइ।

निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ॥ २६॥

शब्दार्थ—कंटकित—काँटों से युक्त। सजनी—सखी। पाइ—पैर। दरसाइ—दिखाई देते हैं।

प्रसंग—जब रामचंद्रजी गंगा-पार होकर आगे बढ़े तब जिन स्त्रियों ने उन्हें देखा वे उन पर मुग्ध हो गईं। किसी सखी ने उनके पैरों की कमल से उपमा दी। दूसरी इस उपमा को हेय ठहराती हुई कह रही है।

अर्थ—हे सखी! कमल में (तो तीक्ष्ण) काँटे होते हैं, किंतु इनके पैर कोमल हैं। कमल रात्रि में संकुचित हो जाते हैं किंतु ये तो रातदिन प्रफुल्लित रहते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में व्यतिरेक अलंकार तथा 'क' की उपनागरिका वृत्ति भी अच्छी है।

(२) कमल-पुष्प की तुलना प्रफुल्लता में पैरों से की गई है। यह गोसाईंजी की एक अनोखी बात प्रकट होती है। कंटकों का वर्णन सत्यता के विरुद्ध है। कमल में काँटे होते ही नहीं, यदि होते भी हैं तो मृणाल में, कमल-पुष्प के नीचे ही। अतः कंटकित न कहने पर भी पैरों की सुंदरता और कोमलता में कोई अंतर न पड़ता परंतु इस उद्भावना के बिना छंद में चमत्कार न आता और यह कोई ऐसी बात नहीं जिसके कारण गोस्वामीजी के प्रकृतिपर्य्यवेक्षण की कमी दिखाई जाय।

(३) यदि इस छंद में हम 'कंटक' का अर्थ 'विघ्न, बाधा' लगा लें तो ऊपर के आक्षेप का भी परिहार हो जाता है। तब हमारा अर्थ यों हो सकता है—"कोमल कमल को अनेक बाधाएँ हैं, रात्रि उसको मलिन कर डालती है। किंतु रामचंद्रजी के कोमल चरण प्रत्येक समय ही स्वच्छंद और विकसित दशा में रहते हैं। इनके लिये कोई कंटक बाधक नहीं।"

द्वै भुज कर हरि रघुबर सुंदर वेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष॥ २७॥

शब्दार्थ—हरि—विष्णु। शेष—शेषनाग।

प्रसंग—रामचंद्रजी प्रयाग से आगे चलते गए। वे वाल्मीकि के आश्रम में पहुँच गए। उन्होंने वाल्मीकिजी से रहने का स्थान पूछा—

अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ । सिय-सौमित्र-सहित जहँ जाऊँ ॥

('मानस')

तब वाल्मीकिजी ने उत्तर दिया—

अर्थ—हे श्रीरामचंद्र ! आप स्वयं हरि हैं, जो दो भुजाओं-वाला (मनुष्य का) सुंदर रूप धारण किए हुए हैं । दूसरे ये लक्ष्मणजी शेषनाग हैं जो एक जिह्वा का (नर-)रूप धारण किए हैं ।

भावार्थ—भगवन् ! आप समस्त विश्व में व्याप्त हैं । आप स्वयं ही बता सकते हैं कि आप कहाँ रहेंगे क्योंकि हम तो आपको विश्वव्यापी ही जानते हैं । यही भाव इस दोहे में भी व्यक्त किया गया है—

'पूछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूँछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ ॥'

('मानस')

इसी प्रकार शेषनाग स्वयं धरणीधर हैं । उन्हें पृथ्वी का कोई भाग जानने में क्या देर ? किंतु नरलीला करने के लिये और नररूपधारी होने के कारण आप लोग प्रश्न करते हैं तो भ्रम में न डालकर आप मुझे उबारें । यही भाव निम्न-लिखित चौपाई में भी है—

कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू । तुम्ह पालक संतत श्रुतिसेतू ॥

टिप्पणी—(१) इस छंद को रामायण के निम्नांकित छंद से मिलाइए —

'श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥

जो सहससीसु अहीसु महि-धरु लषनु स-चराचर-धनी ।
सुरकाज धरि नरराज-तनु चले दलन खल-निसिचर-अनी ॥'

(२) इस छंद में हीनतद्रूप रूपक अलंकार है ।

अरण्यकांड

बेद-नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास ।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—बेद—श्रुति, कान । अकास (आकाश),—स्वर्ग, नाक ।

अर्थ—श्रीरामचंद्र ने 'वेद' और 'आकाश' कहकर तथा उँगलियों को खंड कर (एक पर एक रखकर, नाक और कान काट लेने का इशारा करके) लक्ष्मण के पास शूर्पणखा को भेजा ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकार के अलंकार का प्रयोग गोस्वामीजी ने अन्यत्र नहीं किया है ।

(२) इस छंद में सूक्ष्म अलंकार है ।

हेम-लता सिय सूरति मृदु मुसुकाइ ।
हेम-हरिन कहँ दीन्हेउ प्रभुहि दिखाइ ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—हेम—सोना ।

अर्थ—सीताजी सोने की लता की भाँति हैं । उन्होंने तनिक मुसकाकर अपने स्वामी श्रीरामचंद्र को (कपटवेषधारी) स्वर्णमृग (मारीच) दिखला दिया ।

टिप्पणी—(१) उक्त भाव को ग्रहण करने के लिये रामचरित-मानस की निम्नांकित चौपाइयाँ पढ़िए—

सीता-लषन-सहित रघुराई । जेहि बन बसहिं मुनिन्ह सुखदाई ॥

तेहि बन निकट दसानन गयेऊ। तब मारीच कपट-मृग भयेऊ॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनकदेह मनि रचित बनाई॥
सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर वेखा॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥
सत्यसंध प्रभु बध कर एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥

(२) उक्त छंद में सीताजी को 'हेम-लता' और मृग को 'हेम-हरिन' कहा गया है। यहाँ पर माता के वात्सल्य को प्रकट करने की चेष्टा की गई है। अतः यह भी प्रकट किया गया है कि सीताजी ने उस मृग को पालने की इच्छा से चाहा होगा। इस स्वार्थ और पुत्रवत् वस्तु की याचना में अवश्य ही कुछ लज्जा लगी होगी और उन्होंने मृदु मुसकान के साथ कहा होगा। परंतु रामचरितमानस की उक्त चौपाइयों में मृगचर्म की लालसा दिखाई गई है। किंतु कवितावली में प्रथम बात का समर्थन किया गया है—

'देखि मृगा मृगनैनी कहे प्रिय बैन, ते प्रीतम के मन भाये'।

और गीतावली में गोस्वामीजी ने दोनों भावों को मिला दिया है। किंतु उसमें भी पालने की इच्छा विशेष प्रतीत होती है—

कपट-कुरंग कनकमनिमय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला।
पाये पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहुँ मंजुल छाला॥

(३) इस छंद में शब्दावृत्ति और लाटानुप्रास है।

जटा मुकुट कर सर धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच॥ १०॥

शब्दार्थ—कनखियनु—तिरछी दृष्टि से।

अर्थ—जटाओं को मुकुट रूप में बाँधे हुए, हाथों में धनुष-बाण लिए हुए, श्रीरामचंद्र मारीच के साथ लगे हैं। वे घूम

घूमकर सीताजी को कनखियों से देखते हैं। उनकी यह चितवन, गोस्वामीजी कहते हैं कि, मेरी आँखों में बस गई है।

टिप्पणी—(१) इसी अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण गोस्वामीजी ने गीतावली में यों किया है—

'कर सर-धनु, कटि रुचिर निषंग।
प्रिया-प्रीति-प्रेरित बन-बीथिन्ह बिचरत कपट-कनक-मृग संग॥
नलिन नयन, सिर जटा मुकुट बिच सुमन-माल मनु सिव-सिर गंग।
तुलसिदास ऐसी मूरति की बलि, छबि, बिलोकि लाजैं अमित अनंग॥'
'सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥'
'कनक-कुरंग संग साजे कर सर चाप, राजिवनयन इत-उत चितवनि।'

(२) 'बसति अँखियनु बीच' का एक कारण यह है और अवश्य है कि तुलसीदासजी को हनुमान्‌जी द्वारा जिन राम का दर्शन कराया गया था वह इसी दृश्य का था। रामभक्ति में उस रूप को वे कैसे भूल सकते थे।

(३) इस रूप में सात्त्विक तपस्वी-वेष सत्त्वगुण को, धनुष-बाण रजोगुण को तथा (लोभमूलक) मृगया में एकाग्रचित्तता तमोगुण को प्रकट करती है। अतः यह त्रिगुणरूप विशेष ध्यान देने योग्य है।

(४) इस छंद में वृत्त्यनुप्रास तथा दूसरी पंक्ति में सभंग-पद यमक है।

कनकसलाक, कला ससि, दीपसिखाउ।
तारा सिय कहँ लछिमन मोहिं बताउ॥३१॥

शब्दार्थ—कनकसलाक—सुवर्ण की शलाका (सलाई)।

कलासासि—चंद्रमा की चंद्रिका (शीतल, उज्ज्वल और सुंदर)। दीपसिखा—दीपक की लौ। तारा—(नील आकाश में उज्ज्वल) नक्षत्र।

अर्थ—(श्रीरामचंद्र कपटमृग मारकर लौटते हैं किंतु सीताजी को आश्रम में नहीं पाते। वे लक्ष्मण से पूछते हैं) सोने की शलाका (के सदृश गौर वर्णवाली), शशिकला (के समान हृदय को शीतल करनेवाली), दीपक की शिखा (के समान सबको प्रकाशित या प्रसन्न रखनेवाली), तारा (के समान सदैव आँखों में रमनेवाली) सीता कहाँ है? हे लक्ष्मण ! मुझे बताओ।

टिप्पणी—(१) इस छंद में तुल्ययोगिता अलंकार है।

(२) इस ढंग का वर्णन अन्य पुस्तकों में नहीं है।

सीय-बरन सम केतकि अति हिय हारि।
किहेसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि॥ ३२॥

शब्दार्थ—बरन—वर्ण, रंग। केतकि—केतकी का फूल। किहेसि—किया है। हरवा—माला, हार, भूषण। बिदारि—विदीर्ण करके, फाड़कर।

अर्थ—केतकी ने (जो सीताजी के वर्ण से समानता रखती है) हृदय से अपनी हार स्वीकार कर ली और उसी दुःख से उसका हृदय फट गया है। (अपने इसी भाव को छिपाने के लिये उसने) भौंरों का हार पहन लिया है।

टिप्पणी—(१) केतकी का फूल एक प्रकार की बाल के सदृश होता है; जैसे केवड़े की बाल आदि। इसकी सुगंधि बहुत दूर तक छा जाती है। जिस जगह यह फटती है उस जगह सैकड़ों भौंरे आकर बैठ जाते हैं। इसका रंग सुनहला पीला होता है।

(२) प्राय: यह देखा जाता है कि यदि किसी का समगुणी, समवयस्क अथवा समश्रेणी विनष्ट हो जाय तो उसे बड़ा दुःख होता है। सीताजी और केतकी का वर्ण एक सा है। सीताजी लुप्त हो गई हैं, अत: वह अपनी हिम्मत हार गई—अपनी स्थिति में न रह सकी। शोक और निस्साहस से उसका हृदय फट गया। वह अपना दुःख किससे कहे? (सभी अपने बराबरवालों से कहते हैं) अत: उसे छिपाने के लिये उसने भौंरों का हार पहन लिया है।

यह भाव अवश्य ही इस स्थान पर अधिक उपयुक्त है; क्योंकि रामचंद्रजी विरह-व्याकुल हैं। वे सीताजी से समता करनेवाली सभी वस्तुओं में विरह की मात्रा पावेंगे। यही कारण है कि उन्होंने केतकी के हृदय फटने की पीड़ा अनुभव की होगी और उसी भाव की व्यंजना इस छंद में की गई है। इस स्थान पर यह अर्थ लेना कि समता न करने के कारण हृदय विदीर्ण हो गया, अप्रासंगिक है।

सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ।
अगिनि-ताप है तम कहँ सँचरत आइ ॥१३॥

शब्दार्थ—सँचरत—फैलती है।

अर्थ—(श्रीरामचंद्र कहते हैं कि) सारे संसार में चंद्रमा की शीतलता व्याप्त हो रही है (और प्रकाश हो रहा है); परंतु वह अग्नि के समान तप्त होकर, वियोगांधकार को उत्पन्न करती हुई, मुझे जला रही है अर्थात् और दुखी बना रही है।

भाव यह कि चंद्रमा सारे जगत् को सुख देनेवाला है किंतु मुझे सीता के विरह में दुःख दे रहा है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में व्याघात अलंकार है ।

(२) 'तम' का समकक्ष भाव पहली पंक्ति में नहीं है। उसका अध्यारोप करना पड़ेगा ।

किष्किंधाकांड

स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम ।
इनतेँ भइ सित कीरति अति अभिराम ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—सित—श्वेत, उज्ज्वल । कीरति—कीर्ति । अभिराम—प्रसन्न करनेवाली, सुंदर ।

अर्थ—ये साँवले और गोरे शरीरवाले दोनों पुरुष राम और लक्ष्मण हैं । इनके कारण कीर्ति भी निर्मल और सुंदर हुई है (अर्थात् कीर्ति को भी यश प्राप्त हुआ है)। भाव यह कि इनका यश अति उज्ज्वल और विमल है ।

टिप्पणी—(१) शब्दों के क्रम के अनुसार ही उनके विशेषणों का भी क्रम होना चाहिए। इस छंद में 'लछिमन राम' के विशेषण 'स्याम गौर' कहे गए हैं जिससे लक्ष्मण का वर्ण श्याम और राम का गौर सिद्ध होता है। यह काव्य का एक दोष है ।

यह बात अवश्य है कि एक गुण प्रकट करनेवाले अथवा दो पुरुषों के जोड़े वर्णन करनेवाले शब्दों में पहले हीन शब्द रखा जाता है; जैसे—सीता-राम, नदी-नद । किंतु यह नियम सभी स्थानों में लागू नहीं है । इसका उल्लंघन बहुत अधिक किया जाता है । पति-पत्नी, सुख-दु:ख आदि शब्द इसके प्रमाण हैं । फिर यहाँ तो उक्त प्रकार से विचार करने पर कुछ भ्रम में डालनेवाला अर्थ प्रकट होता है। अत: यह वर्जित है ।

(२) यह बात किष्किंधाकांड में हनुमान् द्वारा सुग्रीव से कही गई होगी। इस प्रकार का कथन सहसा अभिव्यक्त किया जाना ग्रंथ की अपूर्णता प्रकट करता है। यह प्रसंग उखड़ा हुआ सा प्रतीत होता है।

कुजन-पाल गुन-वर्जित, अकुल, अनाथ।
कहहु कृपानिधि राउर कस गुनगाथ॥ ३५॥

शब्दार्थ—कुजन-पाल—बुरों का भी पालन करनेवाले। गुन-वर्जित—निर्गुण; सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, तीनों से अलग। अनाथ—स्वामि-रहित, निस्सहाय; निजतंत्र। अकुल—कुलहीन; सभी के कुल के। गाथ—गाथा, कथा, समाचार।

अर्थ—(१) (सुग्रीव रामचंद्रजी से कहते हैं—) आप दुर्जनों का पालन करनेवाले, निर्गुण, विश्वबंधु और निजतंत्र हैं। हे दयासागर! हम आपके गुणों को किस प्रकार कहें?

(२) (सुग्रीव कहते हैं—)आप बुरे आचरणवालों का भी, बिना गुणवालों का भी, कुलविहीनों का भी और निस्सहायों का भी पालन करते हैं। आप कृपानिधि हैं (मुझ पर कृपा करें) और अधिक आपके गुण मैं कैसे कहूँ।

टिप्पणी—(१) इस छंद में छेकानुप्रास है। पहली पंक्ति में, कुछ शब्दों में, श्लेष भी है।

(२) 'कुजन' में 'कु' का अर्थ भद्दा और 'जन' का अर्थ आदमी है। इस प्रकार 'कुजन' का अर्थ वानर भी हो सकता है। यह विशेषण देकर सुग्रीव भविष्य में उनकी रक्षा में आना चाहता है। उसी प्रकार 'कु' शब्द का अर्थ पृथ्वी ग्रहण करने पर मर्त्य व्यक्तियों का बोध होता है।

सुंदरकांड

बिरह-आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिँ बुझाइ॥ १६॥

शब्दार्थ—बिरह-आगि (विरहाग्नि)—बिछोह की आग (पीड़ा)। उर—हृदय। बैरिनि—शत्रु। (व्यंग्य)

अर्थ—(सीताजी अपनी विरह-दशा का वर्णन करती हुई कहती हैं—) बिछोह की आग जब हृदय से ऊपर की ओर (शरीर भर में) धधकती है तब ये दोनों वैरिन आँखें उसे बुझा देती हैं।

टिप्पणी—(१) अ—इस छंद में यह दिखाया गया है कि सीताजी को विरह की ज्वालाएँ जला रही थीं। वे अपने (शरीर) को जलाकर नष्ट कर देना चाहती थीं।

आ—बिछोह की पीड़ा जब अधिक बढ़ जाती है और उसे दूर करने का कोई मार्ग सूझ नहीं पड़ता तब ऐसा होना स्वाभाविक ही है। उक्त छंद में सीताजी की यही दशा दिखाई गई है। साथ ही 'आँसू बहाकर आँखें आप (श्रीराम) के दर्शन की इच्छा करती हैं' यह भी अर्थ है। वे अपने को कायम रखना चाहती हैं।

इ—आँसुओं के गिर जाने पर संतप्त हृदय की पीड़ा प्रायः शांत हो जाती है। हृदय शून्य पड़ जाता है, मस्तिष्क में भावों का आना बंद हो जाता है। उस दशा में प्रिय-स्मृति न आने पर सीताजी का आँखों को "बैरिनि" कहना ठीक ही है। इस शब्द में गौड़ी सरोषा लक्षणा है।

(२) सीताजी विरह को दूर करने के लिये अथवा उससे मुक्ति पाने के लिये अपने को भस्म कर डालना चाहती हैं, जैसा कि रामचरितमानस में कहा गया है—

तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥
कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलहि न पावक मिटहि न सूला॥

किंतु फिर अपने ही कर्मों (मृगचर्म के लिये हठ, लक्ष्मण को दुर्वचन कहना इत्यादि) की याद करके उन्हें और क्षोभ होता है; परंतु अपने को निस्सहाय और विवश पाकर रो पड़ती हैं—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोके क्षोभे च हृदयं अश्रुभिरेव धार्यते॥ (भवभूति)

(३) उक्त छंद से मिलते हुए गोस्वामीजी के निम्न-लिखित छंद देखिए। नेत्र दर्शनाभिलाषी हैं, वे सीताजी के क्षोभ का ध्यान न कर अपना मतलब साधना चाहते हैं और इसी कारण शरीर को बनाए रखते हैं। कितना सुंदर भाव है!—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरै छन माहँ सरीरा॥
नयन स्रवहिँ जल निजहित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी॥
('मानस')

बिरह-अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछु सक।
अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक॥
(गीतावली)

डहकु न है उजियरिया निसि नहिँ घाम।
जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥१७॥

शब्दार्थ—डहकु न—भ्रम न करो। उजियरिया निसि—शुक्ल पक्ष की रात।

अर्थ—(सीताजी एकाएक कह बैठीं 'मुझे यह घाम पीड़ा दे रहा है'। उन्हें शीतल शशिकला सूर्य की किरण जान पड़ती थी। तब त्रिजटा ने कहा—हे सीते!) यह धूप नहीं

है, यह तो शीतल चंद्र-ज्योत्स्ना (शुक्ल पक्ष की रात) है। भ्रम न करो; रात को धूप नहीं होती। (तब सीताजी कहती हैं—) मुझे तो राम के बिना सारा संसार जलता हुआ सा प्रतीत होता है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर विरह-व्यथा की पराकाष्ठा दिखाई गई है। उस समय शरीर के लिये सुख के सारे सामान दुःख-दायी और जलन पैदा करनेवाले हो जाते हैं।

नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल-निसा-सम निसि ससि भानू॥

('मानस')

(२) इस छंद में भ्रांतापह्नुति अलंकार है।

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ॥ ३८॥

शब्दार्थ—कनगुरिया—छोटी उँगली, कनिष्ठिका। मुदरी—अँगूठी।

अर्थ—(सीताजी हनुमानजी से कहती हैं कि) अब जीवन की कोई आशा नहीं रह गई; क्योंकि (मैं इतनी दुबली हो गई हूँ कि) छोटी उँगली में पहनी जानेवाली अँगूठी अब कलाई में कंकण की भाँति आ जाती है।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में सीताजी ने अपनी करुण दशा का चित्र खींचा है। रामचरितमानस और गीतावली में इसी का दिग्दर्शन कराया गया है—

मास दिवस महुँ नाथु न आवा। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा॥

('मानस')

मैं देखी जब जाइ जानकी मनहु विरह-मूरति मन मारे॥
चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर, मढ़े से स्रवन नहिं सुनति पुकारे।

(गीतावली)

(२) इस छंद में अल्प अलंकार है तथा अति कृशता सूचित की गई है।

राम-सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार।
असुरन कहँ लखि लागत जग अँधियार॥ ३९॥

शब्दार्थ—जुग—युग (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग)। लखि—देखकर।

अर्थ—रामचंद्रजी के सुंदर यश का चारों युगों में प्रचार है (अर्थात् चारों युगों में उनकी निर्धारित मर्यादा का पालन होता है, न्याय होता है और उसी का यशोगान करके मनुष्य भवसागर पार होते हैं); परंतु राक्षसों को देखकर सारा संसार अंधकारमय सा प्रतीत होता है (अर्थात् अत्याचार का ही बोल-बाला है, धर्म के पुजारी झोपड़ियों में हैं और अत्याचारी महलों में, राम के यश में कोई प्रताप नहीं रहा)।

टिप्पणी—(१) जानकीजी ने इस छंद में श्रीरामचंद्र की सर्व-शक्तिमत्ता की ओर संकेत करके राक्षसों की अनधिकार-चेष्टाओं को रोकने की इच्छा प्रकट की है। रामचंद्रजी को साहस या शक्ति का स्मरण कराया गया है। उनका यश-रूपी प्रकाश अत्याचार के अंधकार में छिप गया है। अत: वे अपना यश फिर उज्ज्वल करें।

(२) इस छंद में व्याघात अलंकार है। दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास भी है।

(कपि-वाक्य)

सिय-बियोग-दुख केहि विधि कहउँ बखानि।
फूलबान ते मनसिज बेधत आनि॥ ४०॥

शब्दार्थ—फूलबान—कामदेव के पास फूलों के बाण हैं। इन बाणों का प्रहार होने पर प्रेम अपनी पूरी शक्ति से उभड़ता है। (पश्चिमीय

सिद्धांत के अनुसार प्रेम के इष्ट देवता 'क्युपिड' के पास दो बाण हैं—एक चाँदी का और दूसरा जस्ते का। प्रथम से प्रेम अंकुरित होता और दूसरे से उसकी शांति होती है।) मनसिज—कामदेव।

अर्थ—(हनुमान्‌जी श्रीरामचंद्र से कहते हैं कि) सीताजी का दुःख मैं किस प्रकार कहूँ। उनको प्रतिदिन कामदेव फूल के बाणों से मारकर विकल करता है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में काम-पीड़ा का सा भाव प्रतीत होता है किंतु सीताजी के कृश शरीर के वर्णन के पश्चात् इसकी आशा नहीं की जाती। फिर सीताजी का संदेश, जो ३९वें बरवै में कथित है, कदापि इस दृष्टिकोण का नहीं। वह तो रामचंद्रजी को क्षात्र-धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये कहा गया है। वहाँ काम-पीड़ा का वर्णन कहाँ? किंतु हनुमान्‌जी ने इस उक्ति से प्रकट किया है—'आप वीर हैं। ऐसे प्रतिद्वंद्वी से, जिसके कारण कामदेव आपकी पत्नी को बाणों से छेदता है, जानकीजी को बचाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते?'

(२) वास्तव में काम-पीड़ा और विरह-पीड़ा में अंतर है। संभोग की उत्कट इच्छा की अपूर्ति का नाम काम-पीड़ा है तथा अपने अभीष्ट जन की अप्राप्ति का दुःख विरह है। गोस्वामीजी को कदाचित् यह भेद स्पष्ट न था, अतएव उन्होंने विरह-वेदना के स्थान में कई स्थलों पर कामदेव की प्रतारणा की चर्चा की है। कामदेव प्रेम का भी देवता माना जाता है। इसलिये यह भ्रम और भी स्थान पा गया।

सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
विधुहिँ जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥ ४१॥

शब्दार्थ—सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि—कवि-परंपरा से यह प्रसिद्ध और स्वीकृत बात है कि शरद्-ज्योत्स्ना अत्यंत शीतल और मनोहारिणी होती है। इस समय वह अपने पूर्ण विकास पर होती है। वह चारों ओर आकर फैल गई है। बिधुहिँ—चंद्रदेव को। कुलगुरु जानि—सूर्यदेव समझकर।

अर्थ—(हनुमानजी रामचंद्रजी से कहते हैं कि) जिस समय शरद्-चंद्रिका सीताजी के चारों ओर निखर उठती है उस समय वे (विरहाग्नि से संतप्त रहने के कारण) भ्रम में पड़कर चंद्र को (जो उस समय पूर्ण कांति में होते हैं) सूर्य समझकर विनय करती हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में विरह-जन्य भ्रांति है परंतु भ्रांतिमान् अलंकार नहीं है।

(२) उक्त छंद में दो बातें प्रकट की गई हैं—एक तो यह कि वे नित्यप्रति अपने ही कुल अर्थात् रामचंद्रजी के ही संबंध का ध्यान किया करती हैं और दूसरी यह कि वे लगभग ज्ञानशून्य हो गई हैं।

(३) 'कुलगुरु' से ताप कम कर देने की प्रार्थना करने का अर्थ यह भी है कि आप उनकी रक्षा करें। दूसरा अर्थ यह संभव है कि इसलिये "सूर्यदेव आपको, मुझे मुक्त करने के लिये, प्रयत्नशील करें।"

लंकाकांड

बिबिध बाहिनी बिलसति सहित अनंत।
जलधि सरिस को कहै राम भगवंत॥ ४२॥

शब्दार्थ—वाहिनी (वाहिनी)—(१) सेना; (२) नदी। अनंत—(१) शेषनाग, लक्ष्मण; (२) अपार। जलधि—सागर।

अर्थ—(१) (यह वर्णन उस समय का है जब रामचंद्रजी सेना सहित सागर पार हो रहे हैं।) ऋक्षों और वानरों की अनेक प्रकार की सेना के बीच में राम-लक्ष्मण शोभायमान हैं, यह कौन कहे कि "मानों समुद्र के बीच में शेषनाग तथा भगवान् हैं"; अर्थात् उस स्वरूप से यह स्वरूप अधिक अच्छा है। (उक्त छंद में लक्ष्मण के शेषनाग होने का ज्ञान प्रयुक्त हुआ है। शेषनाग से मिलती हुई कोई वस्तु वहाँ नहीं है। सेना को समुद्र माना गया है; किंतु समुद्र को हेय सा प्रकट किया गया है। प्रलय-काल में वह धर्मिष्ठों का भी नाश कर देता है। सेना धर्मिष्ठों के पालन के हेतु और अत्याचारियों के नाश के हेतु उमड़ी है।)

(२) जिस प्रकार समुद्र नदियों के साथ अपार होकर विलास करता है उसी प्रकार अपार भगवान् राम सेना के साथ शोभित हैं। किंतु रामचंद्रजी को जलधि कौन कहे ? (कारण उपर्युक्त ही है।)

टिप्पणी—(१) इस छंद में श्लेष से पुष्ट प्रतीप अलंकार है। (२) पहली पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास भी है।

उत्तरकांड

चित्रकूट पयतीर सो सुर-तरु-बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥ ४३॥

शब्दार्थ—पय—जल, (पयस्विनी) नदी, मंदाकिनी नदी जो चित्रकूट में है। सुर-तरु—कल्पद्रुम, वटवृक्ष।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि चित्रकूट में पयस्विनी के तट पर वटवृक्ष के नीचे निवास करते हुए श्रीरामचंद्र, सीताजी और लक्ष्मणजी का स्मरण करो।

टिप्पणी—(१) गोसाईंजी ने चित्रकूट की महिमा अनेक स्थानों पर विशेष रूप से गाई है; क्योंकि वहीं तो उनको इष्टदेव का साक्षात्कार हुआ था—

चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसत तिलक देत रघुबीर॥

× × × ×

अब मन चेत चित्रकूटहिं चल।

(२) इस छंद में निदर्शना अलंकार है।

पय नहाइ फल खाहु, परिहरिय आस।
सीयराम-पद सुमिरहु तुलसीदास॥ ४४॥

शब्दार्थ—परिहरिय—त्याग दो। आस—सांसारिक उन्नति की इच्छा।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि गंगाजी में स्नान कर फलों का भोजन करो, संसारी विषय-वासना त्याग दो और सीताजी तथा रामचंद्रजी के चरणों का स्मरण करो।

टिप्पणी—(१) मिलाइए—

पय नहाइ, फल खाइ, जपु, रामनाम षट मास।
(रामाज्ञा प्रश्न, सप्तम सर्ग)

(२) 'पय' से यहाँ पयस्विनी नदी का भी अर्थ लग सकता है; क्योंकि फल खाने की संगति चित्रकूट ही में बैठती है।

स्वारथ परमारथ हित एक उपाय।

सीयराम-पद तुलसी प्रेम बढ़ाय॥ ४५॥

शब्दार्थ—स्वारथ (स्व + अर्थ)—अपनी प्राप्य वस्तु (धर्म, अर्थ, काम) प्राप्त करना। परमारथ (परम + अर्थ)—परलोक साधना।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि स्वार्थ तथा परमार्थ के हेतु केवल एक उपाय है। वह यह कि सीताजी और रामचंद्रजी के चरणों से स्नेह बढ़ावे।

टिप्पणी—(१) इसके प्रमाण में गोसाईंजी का ही लेख है—

पुरुषारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब सगुन सुभ, सुमिरत सीताराम॥

(रामाज्ञा प्रश्न)

(२) मिलाइए—

स्वारथ परमारथ सुलभ रामनाम के प्रेम॥ १९॥

(दोहावली)

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।

रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥ ४६॥

शब्दार्थ—कराल—भयंकर।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि सावधान होकर कुटिल तथा भयंकर (कलि-)काल की ओर देखो (जिसमें परलोक-साधन के अन्य सभी साधन कठिन हैं) और (सबसे सरल मार्ग का अवलंबन करते हुए) प्रीति-पूर्वक श्रीराम-नाम का ध्यान करो।

टिप्पणी—मिलाइए—

नाम कल्पतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग-जाला॥
नहिं कलि करम न धरम बिवेकू। राम-नाम अवलंबन एकू॥

('मानस')

खेती बनिज न भीख भलि, अफल उपाय कदंब।
कुसमय जानब, बाम बिधि, राम-नाम अवलंब॥

संकट सोचविमोचन, मंगलगेह।
तुलसी रामनाम पर करिय सनेह॥ ४७॥

शब्दार्थ—बिमोचन—छुड़ानेवाला। गेह—घर।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि संकटों तथा दुःखों को छुड़ानेवाले कल्याण के घर राम-नाम पर स्नेह करो।

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में छेकानुप्रास है।

कलि नहिं ज्ञान, बिराग, न जोग-समाधि।
रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥ ४८॥

शब्दार्थ—कलि—कलियुग में। जोग—योग। समाधि—ध्यानावस्थित होकर बैठना। योग की अनेक क्रियाएँ हैं जिनसे, कुछ आचार्यों का मत है कि, परमेश्वर की प्राप्ति होती है। हठयोग आदि इसी की शाखाएँ हैं। निरुपाधि— बिना विघ्न-बाधा के।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि कलियुग में न तो ज्ञान सफल होता है न वैराग्य, न योग और न समाधि ही। अस्तु, नित्य ही विघ्न-बाधा से बचकर रामचंद्रजी के नाम का स्मरण करो।

टिप्पणी—(१) मिलाइए—

नहिं कलि करम न धरम बिवेकू। राम-नाम अवलंबन एकू॥

(२) 'निरुपाधि' का अर्थ उपाधि-विहीन अर्थात् निर्गुण भी हो सकता है। ऐसे प्रसंग में इसे नाम का विशेषण मानकर अर्थ करना होगा।

(३) 'योग' की कई परिभाषाएँ मिलती हैं। पातंजल 'योगसूत्र' में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

गीता में व्यवहार-कुशलता को ही योग माना गया है—योगः कर्मसु कौशलम् ।

रामनाम दुइ आखर हिय हितु जानु ।
राम लषन सम तुलसी सिखब न आनु ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—आखर—अक्षर । हितु—हितू, हितैषी । सम—समान । सिखब—शिक्षा ।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि 'राम' के दो अक्षरों को हृदय से अपना हितैषी समझो। राम-लक्ष्मण के नाम के सदृश दूसरी कोई भी शिक्षा नहीं है ।

टिप्पणी—मिलाइए—

(१) रामनाम को अंक है सब साधन को सून । १० । (दोहावली)

(२) कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आषर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥ (कबीर)

माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम ।
तुलसी जेहि न सोहाइ ताहि बिधि बाम ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—बाम—टेढ़ा, विपरीत ।

अर्थ—श्रीरामचंद्र का नाम माता-पिता के समान लालन-पालन की चिंता रखता है। वह गुरु के समान सदुपदेश देनेवाला तथा स्वामी के सदृश रक्षा करनेवाला है। तुलसीदासजी कहते हैं कि जिनको 'राम' नाम प्रिय नहीं लगता, उनके विपरीत ब्रह्मा है अर्थात् उनकी ललाट-लिपि उनके अनुकूल नहीं है ।

टिप्पणी—मिलाइए—

टिप्पणी—मिलाइए—

नामप्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी॥ ('मानस')

× × × × ×

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति-हेतु उपदेसू॥ ('मानस')

जान आदि-कवि तुलसी नाम-प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते भये ऋषिराउ॥ ५४॥

शब्दार्थ—आदि-कवि—वाल्मीकिजी। कोल—इस नाम की एक असभ्य जंगली जाति। ऋषिराउ—महर्षि।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-नाम का माहात्म्य आदि-कवि वाल्मीकिजी को ज्ञात था जो 'राम' के स्थान में 'मरा, मरा' जपकर कोल से महर्षि हो गए।

टिप्पणी—रामचरितमानस से मिलाइए—

जान आदिकवि नाम-प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

कलसजोनि जिय जानेउ नाम-प्रतापु।
कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जापु॥ ५५॥

शब्दार्थ—कलसजोनि (कलशयोनि)—कुंभज, अगस्त्य। जापु—बार बार स्मरण करना।

अर्थ—राम-नाम का प्रभाव अगस्त्य ऋषि को भली भाँति ज्ञात था जिन्होंने (उसे) मन में जपकर सारे समुद्र को अनायास ही पी लिया।

टिप्पणी—अगस्त्य ऋषि एक बार समुद्र-तट पर संध्या कर रहे थे कि समुद्र की हिलोर उनकी पूजन-सामग्री बहा ले गई। समुद्र की यह उद्दंडता देख उन्हें बड़ा क्रोध हो आया। वे तत्काल ही राम-नाम का जाप कर समुद्र का सारा जल तीन आचमनों में पी

गए। अंत में देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने पेशाब द्वारा समुद्र को फिर भर दिया। कहते हैं, तभी से समुद्र का जल खारा है।

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि।
बेद पुरान पुकारत, कहत पुरारि॥५६॥

शब्दार्थ--सुलभ—सरलता से प्राप्त। फल चारि—चारों फल (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष)।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-नाम के स्मरण से चारों फल सरलता से मिल जाते हैं। वेद, पुराण ऐसा पुकार पुकारकर कहते हैं और यही शिवजी भी कहते हैं।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास है।

रामनाम पर तुलसी नेह निबाहु।
एहि ते अधिक, न एहि सम जीवनलाहु॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—निबाहु—निर्वाह करो। लाहु—लाभ। नेह—स्नेह।

तुलसीदासजी कहते हैं कि (आदि से अंत तक केवल) श्री राम-नाम से ही प्रेम का निर्वाह करो। जीवन पाने का (मनुष्य-जीवन का) इससे अधिक अथवा इसके बराबर दूसरा लाभ नहीं है।

टिप्पणी—'पर' खड़ी बोली की विभक्ति है। यहाँ 'पहँ' अथवा 'पै' होना चाहिए था।

दोष-दुरित-दुख-दारिद-दाहक नाम।
सकल सुमंगलदायक तुलसी राम॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—दोष—अपराध। दुरित—पापकर्म। दु:ख—दैहिक, दैविक और भौतिक ताप। दारिद—दारिद्रय। दाहक—जलानेवाला।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-नाम अनेक दोषों, पापों और दुःख-दारिद्र्य का नाश करनेवाला है। वह सब प्रकार से सुखदायक है।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति का अनुप्रास द्रष्टव्य है।

केहि गिनती महँ? गिनती जस बनघास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥ ५८॥

शब्दार्थ—गिनती—गणना। बनघास—जंगली वनस्पति।

अर्थ—तुलसीदासजी (स्वयं अपने लिये) कहते हैं कि मेरी क्या गिनती थी अर्थात् मैं किस योग्य था? मेरी वही दशा थी जो वन में घास की। किंतु राम-नाम कहने से (अर्थात् राम पर काव्य लिखने से) तुलसीदास (तुलसी का दास) न रहकर अब 'तुलसी' हो गया हूँ।

टिप्पणी—(१) कुछ लोग 'तुलसी' का अर्थ तुलसी की पत्ती से लेते हैं। तब वे इस छंद का भावार्थ यों करते हैं—'राम-नाम जपते जपते मैं एक साधारण दशा से लोकपावन दशा में आ गया हूँ। अब मुझमें और पुराने अबोध तुलसीदास में उतना ही अंतर है जितना कि पवित्र तुलसी और वन की घासफूस में।'

(२) मिलाइए—

नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान-निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास॥

('मानस')

(३) तुलसी का गुण देखिए—

तुलसी तुलसी मंजरी, मंगल मंजुल मूल।
देखत सुमिरत सगुन सुभ कलपलता फल फूल॥

(रामाज्ञा-प्रश्न)

आगम निगम पुरान कहत करि लीक।
तुलसी नाम राम कर सुमिरन नीक॥ ६० ॥

शब्दार्थ—आगम निगम—वेद, शास्त्र और पुराण। करि लीक—सिद्धांत मानकर।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि वेद, शास्त्र और पुराण यह सिद्धांत निश्चित करके कहते हैं कि 'राम' नाम का जप मंगलदायक है।

टिप्पणी—इससे भी अधिक गंभीर भाव इसमें है—

गावहिँ वेद पुरान सुख कि लहिय हरिभगति बिन ?

सुमिरहु नाम राम कर, सेवहु साधु।
तुलसी उतरि जाहु भव उदधि अगाधु॥ ६१ ॥

शब्दार्थ—भव-उदधि अगाध—अपार भवसागर।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण तथा साधुओं की सेवा करो। इस प्रकार अपार भवसागर के पार हो जाओ।

टिप्पणी—(१) साधु-सेवा इसलिये करो कि आचरण शुद्ध हो जाय। मन की शुद्धि के साथ राम-नाम जपने से सारे पाप कट जायँगे। इस प्रकार पुनर्जन्म का बंधन छूट जायगा।

(२) इस छंद में 'नाम राम', 'सेवहु साधु', 'उदधि अगाधु' में छेकानुप्रास अलंकार है।

कामधेनु हरिनाम, कामतरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम॥ ६२ ॥

शब्दार्थ—कामधेनु—सब फल देनेवाली गौ। कामतरु—सभी वांछित फल देनेवाला वृक्ष, कल्पवृक्ष।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम का नाम सभी फलों को, कामधेनु की भाँति, देनेवाला है। उसी प्रकार राम कल्प-वृक्ष की भाँति सभी इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ हैं। अतः राम-नाम के स्मरण मात्र से चारों फल सरलता से प्राप्त हो सकते हैं।

टिप्पणी—(१) कामधेनु—यह गौ इसलिये प्रसिद्ध है कि इसे चाहे जितनी बार दुहा जाय, यह दूध देगी। (संस्कृत में इसकी व्याख्या बहुत बड़ी है।) यहाँ पर इससे उपमा देकर यह प्रकट किया गया है कि जितना ही अधिक जप होगा उतना ही अधिक फल होगा और जप कभी निष्फल न जायगा।

(२) इस छंद का उत्तरार्द्ध और ५६वें बरवै का पूर्वार्द्ध एक सा है।

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि॥ ५६॥

इस प्रकार की, भावों की, पुनरावृत्ति अनेक स्थलों पर है।

(३) इस छंद में 'काम' और 'स' का वृत्त्यनुप्रास और छेका-नुप्रास है।

(४) मिलाइए—

रामनाम कलि कामतरु, सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि जग, पग पग परमानंद॥

(रामाज्ञा-प्रश्न)

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥ ६२॥

शब्दार्थ—अनुराग—प्रेम। सन—'से' के लिये अवधी भाषा की विभक्ति।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि सभी लोग कहा करते और सुना करते हैं परंतु समझनेवाले कोई विरले ही होते हैं; रामभक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।

टिप्पणी—उक्त छंद का भावार्थ यह है कि 'राम का नाम बड़ा उपयोगी है' ऐसा कहते-सुनते तो बहुत से लोग सुने गए हैं परंतु वे भाग्यशाली विरले ही हैं जिनमें राम के लिये वास्तविक स्नेह उत्पन्न हो जाता है। आगे के बरवै में इसी भाव पर और प्रकाश डाला गया है।

एकहि एक सिखावत जपत न आप।
तुलसी रामप्रेम कर बाधक पाप ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—बाधक—विघ्नकारी।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि लोग एक दूसरे को यह शिक्षा देते हैं (कि जपो, जपना चाहिए) किंतु स्वयं जाप नहीं करते। (वे कैसे जप पावें, वे पाप करना छोड़ नहीं सकते; इसी स्थान पर उनका कपट पाया जाता है।) पाप सदैव पुरुष को राम का प्रेमी होने में रुकावट डालता है।

टिप्पणी—(१) पूर्वार्द्ध की तुलना रामचरितमानस से कीजिए—

पर-उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

(२) पाप के कारण हृदय जड़ रहता है, नम्रता न होने से भक्ति नहीं होती, जैसा कि रामचरितमानस में कहा है—

जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयेहु न मज्जन पाव अभागा ॥

मरत कहत सब सब कहँ 'सुमिरहु राम'।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥६५॥

शब्दार्थ—परिणाम—अंत, फल।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि मरते समय सब लोग सबको यही उपदेश देते हैं कि राम-नाम का स्मरण करो। (यह इस बात का द्योतक है कि वे राम-नाम का माहात्म्य समझते

अवश्य हैं) परंतु परिणाम समझने पर भी जीते जी कोई राम-नाम नहीं जपता। (दुःख में सभी 'राम' जपते हैं; सुख में उसका ध्यान उन्हें नहीं होता।)

टिप्पणी—मिलाइए—

"दुख में सब सुमिरन करैं, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करैं, दुख काहे को होय॥"

"सुख में सुमिरन ना किया, दुख में कीया याद।
कह कबीर ता दास की, कौन सुनै फरियाद?"

('कबीर')

तुलसी रामनाम जपु आलस छाँड़ु।
रामबिमुख कलिकाल को भयो न भाँड़ु॥६६॥

शब्दार्थ—भाँड़ु—निंदनीय, उपहासास्पद।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि आलस्य त्यागकर राम-नाम का स्मरण करो। इस कलियुग में इसके बिना कौन निंदनीय नहीं हुआ? (कदाचित् 'भाँड़ु' शब्द से गोसाईंजी का संकेत उन चिमटाधारी अलख जगाते फिरते अथवा बड़े बड़े बालोंवाले महात्माओं से हो जो उनके समय में नाना वेष धारण करके लोगों को बहकाया करते थे।)

टिप्पणी—इस छंद में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥६७॥

शब्दार्थ—तनु-अवसान—मृत्यु होने पर।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि राम-नाम के समान मित्र दूसरा कोई नहीं है जो मृत्यु होने पर रामचंद्रजी के निकट

पहुँचा देता है। (अन्य मित्र तो मृत्यु के अनंतर यहीं छूट जाते हैं।)

टिप्पणी—इस छंद में संकेत से काव्यलिंग अलंकार का स्वरूप दृष्टिगत होता है।

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥ ६८ ॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामचंद्रजी! आप मुझे जन्म जन्म में अपने नाम का बल तथा विश्वास और अपने नाम से प्रेम का वरदान दीजिए।

टिप्पणी—

"जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।"

से यह भाव मिलता है।

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नामसनेहु॥६९॥

शब्दार्थ—निबाहिब—निबाहेंगे, निस्तार करेंगे।

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामचंद्रजी! आप जहाँ जहाँ, जिस जिस योनि में मुझे जन्म दें वहाँ वहाँ अपने नाम के साथ मेरा स्नेह निबाहें।

टिप्पणी—(१) 'जनम जनम', 'जहँ जहँ', 'तहँ तहँ' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

(२) इसी भाव को रामायण में यों प्रकट किया गया है—

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ॥
जेहि जोनि जनमौं कर्म-बस तहँ रामपद अनुरागऊँ॥

(३) इस बरवै के साथ बरवै रामायण समाप्त होती है। इस ग्रंथ के उत्तरकांड की 'राम-नाम'-महिमा का मिलान 'मानस' के बालकांड की तथा उत्तरकांड की 'राम-नाम'-महिमा से किया जा सकता है। नाम की प्रशंसा में गोस्वामीजी ने अन्य ग्रंथों में भी काफी लिखा है। कवितावली के उत्तरकांड में, दोहावली के आरंभिक छंदों में तथा अन्य ग्रंथों में यत्र-तत्र 'राम-नाम'-महिमा की चर्चा इसी प्रकार की गई है। पाठक उन स्थलों को मिलाकर पढ़ने से गोस्वामीजी की नामभक्ति-परंपरा का अनुशीलन कर सकते हैं।

पार्वती-मंगल

बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि।
हृदय आनि सियराम धरे धनु भाथहि॥ १॥

शब्दार्थ—बिनइ—विनती करके। गुनिगनहि—गुणिगण को, गुणियों को। गननाथहि—गणों के स्वामी श्रीगणेश को। हृदय आनि—मन में लाकर अर्थात् स्मरण करके, ध्यान धरकर। भाथहि—तरकस को (जिसमें अनेक प्रकार के बहुत से तीर रखे होते हैं)।

अर्थ—गुरुजी को (जिनके द्वारा मैं आगे वर्णित विषय जान सका हूँ), गुणियों को (जो अपनी कृपा द्वारा इस कथा को आदर देंगे और जिन्होंने इस विषय में मेरा नेतृत्व किया है), पर्वतराज हिमाचल को (जिसने सर्वमान्या पार्वती-जी ऐसी कन्या उत्पन्न की) और गणेशजी को (केवल जिनकी ही कृपा से मैं यह कथा निर्विघ्न लिख सकूँगा) विनम्रता से प्रार्थना करके तथा सीताजी और धनुष-बाण-युक्त रामचंद्रजी को (जो मेरे ऊपर सदा कृपा करते रहे हैं) मन में स्मरण कर—

टिप्पणी—(१) तुलसीदासजी थे तो श्री रामचंद्र के एकनिष्ठ अनन्य भक्त फिर भी, स्मार्त्त वैष्णव होने के कारण, (जैसा कि उनके वृंदावन-यात्रा में गोपाललाल के मंदिर में कहे गए वाक्य से विदित होता है—

'का छबि बरनउँ आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान हो हाथ॥')

वे अन्य देवताओं पर भी विश्वास और श्रद्धा रखते थे। राम-चरितमानस में तो उन्होंने रामचंद्रजी के मुख से शिवजी के संबंध में कहलाया है—

......'सिवसमान प्रिय मोहि न दूजा' ॥

'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा' ॥

अन्यत्र—

बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू ॥

इसी प्रकार गणेशजी के लिये—

"जेहि सुमिरत सिधि होय, गननायक करिवर-वदन।" आदि।

गोसाईंजी ने सभी मान्य देवी-देवताओं की समयानुकूल वंदना की है। उन्होंने सभी में अपने उपास्य देव का प्रतिरूप देखा है—

"सीय-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी॥"

(२) उक्त छंद में वृत्त्यनुप्रास है।

गावउँ, गौरि-गिरीस-बिबाह सुहावन।
पापनसावन, पावन, मुनि-मन-भावन॥ २ ॥

शब्दार्थ—गौरि-गिरीस-विबाह—पार्वतीजी और शंकरजी के विवाह को। गिरीस (गिरि + ईश)—पर्वतपति, कैलाशपति, शंकरजी। पावन—शुद्ध, पवित्र, शुचि। मनभावन—हृदय-रंजक।

अर्थ—(तुलसीदासजी कहते हैं कि) शंकरजी और पार्वती-जी के सुंदर विवाह का वर्णन करता हूँ, जो पापों का नाश करने-वाला, पवित्र और मुनियों के हृदय को सुदर लगनेवाला है।

टिप्पणी—(१) तुलसीदासजी का विश्वास था कि देवताओं के चरित्र-गान से पाप-निवृत्ति होती है। यथा—

'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'

'सब गुन-रहित कुकबि-कृत बानी। राम-नाम-जस-अंकित जानी॥'

(२) प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है। 'आवन' की आवृत्ति दूसरी पंक्ति में लाटानुप्रास का स्वरूप खड़ा करने का प्रयास करती है।

(३) 'गिरीस' शब्द साधारण रीति से हिमाचल के लिये प्रयुक्त होता है किंतु यहाँ इसका प्रयोग विशेष प्रकार से शिवजी के लिये किया गया है ।

कबितरीति नहिँ जानउँ, कबि न कहावउँ ।
शंकर-चरित-सुसरित मनहिँ अन्हवावउँ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कबितरीति—कविता करने के नियम; छंदःशास्त्र, पिंगल आदि का ज्ञान । सुसरित—सुंदर सरिता में । अन्हवावउँ—नहलाता हूँ (शुद्ध करता हूँ) ।

अर्थ—(गोसाईंजी अपने विषय में कहते हैं कि) मैं कविता के विभिन्न नियमों से अनभिज्ञ हूँ । लोग मुझे कवि कहते भी नहीं । (कोई यह न समझे कि मैं अपने इस वर्णन को इसलिये लिख रहा हूँ कि यह काव्य में उच्च श्रेणी पावे और मैं कवि गिना जाऊँ ।) मैं तो केवल अपने हृदय को शिव-चरित्र-वर्णन-रूपी पवित्र नदी में नहलाना चाहता हूँ ।

टिप्पणी—(१) इस छंद में कवि-कुल-चूड़ामणि गोसाईंजी ने अपनी जो नम्रता दिखाई है वह कदाचित् ही किसी में हो। संस्कृत कवि तथा कुछ हिंदी कवि तो ग्रंथारंभ में अपनी प्रशंसा करना ही बहुधा अपना प्रमुख कार्य समझते थे। रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी अपनी इस स्वाभाविक नम्रता को प्रकट करने से नहीं चूके—

> कबि न होउँ नहिं बचनप्रबीनू । सकल कला सब बिद्या-हीनू ॥
> कबित-बिबेक एक नहिं मोरें । सत्य कहौं लिखि कागद कोरें ॥
> कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं । मति-अनुरूप रामगुन गावौं ॥

गोस्वामीजी तो स्वांतःसुखाय कविता करते थे, यही उनके शब्दों से पूर्ण रूप से प्रकट होता है,—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ।

किंतु छंदोक्त शब्दों से उन्हें साधारण लेखक न समझ लेना चाहिए। इसमें व्यक्त लघुत्व भी परमानुभूति और उच्च कोटि के ज्ञान की वास्तविकता का परिचायक है।

(२) इस छंद में छेकानुप्रास अलंकार है।

पर-अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहि।
पावनि करउँ सो गाइ भवेस-भवानिहि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पर—अपर, अन्य, दूसरा। अपवाद—निंदा। विवाद—तर्क, खंडन-मंडन, झगड़ा। विदूषित—अपवित्र। बानिहि—वाणी को। पावनि—पवित्र करनेवाली। भवेस [भव (संसार) + ईश]—संसार-पति, शंकरजी। भवानी—भव (महेश) की स्त्री, पार्वतीजी।

अर्थ—संसार के स्वामी शंकरजी और पार्वतीजी के चरित्र को गाकर (मैं) परनिंदा और व्यर्थ वाद-विवाद आदि से दूषित अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ।

टिप्पणी—(१) हिंदी का प्राचीन गाथा-काव्य मुख्यतया मनुष्य-संबंधी लड़ाइयों और उन्हीं के यश-वर्णनों से भरा हुआ था। जायसी आदि भी, जो ईश्वर की सत्ता के पोषक थे, अपनी कृतियों में नर-वर्णन को ही महत्त्व देते थे। भूषण और रसखान आदि का तो कहना ही क्या है। किंतु तुलसीदासजी नर-वर्णन को वाणी के लिये दोषकारक समझते थे। उसे वे सरस्वती-प्रेरित हृदय की अंतर्भूत शक्तियों का अनधिकार-प्रयोग समझते थे—

कीन्हे प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥
('मानस')

विवाद आदि को तो वे मस्तिष्क का एक रोग समझते थे। अतः देवताओं और अपने इष्टदेव की चर्चा में ही वे कवित्व-शक्ति का वास्तविक साफल्य समझते थे।

(२) 'वाद' की पुनरुक्ति में लाटानुप्रास, 'द' की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास तथा दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

जय संवत फागुन, सुदि पाँचै, गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु॥ ५॥

शब्दार्थ—जय संवत—जय नाम का संवत्। यह संवत् १६४२ था। फागुन—फाल्गुन का महीना। सुदि—शुक्लपक्ष। गुरु दिनु—बृहस्पतिवार। अस्विनि—अश्विनी नक्षत्र। मंगल—पार्वती-मंगल।

अर्थ—मैंने जय संवत् में फागुन सुदी पंचमी, बृहस्पतिवार, अश्विनी नक्षत्र में इस पार्वती-मंगल की रचना की जिसको सुनकर प्रतिक्षण सुख मिलता है (अथवा मिलेगा)।

टिप्पणी—(१) महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने अन्य सभी निश्चित फलों को अशुद्ध ठहराकर यह निश्चित किया है कि 'जय' संवत् १६४२ ही है।

(२) 'बिरचेउँ' से प्रकट होता है कि इसका प्रारंभ हुआ और निर्माण समाप्त भी हो गया। परंतु यह असंभव है कि पुस्तक एक ही दिन में लिख गई हो। अतएव इसे आरंभिक तिथि ही समझना चाहिए। भविष्य की समाप्ति के समक्ष 'बिर-चेउँ' में भूतकाल का प्रयोग किया गया है।

(३) वर्णन बिलकुल इतिवृत्तात्मक है।

गुननिधान हिमवान धरनिधर धुरधनि।
मैना तासु घरनि घर त्रिभुवन तियमनि॥ ६॥

शब्दार्थ—गुननिधान—गुणवान्। धरनिधर—पर्वत, हिमाचल। धुरधनि—ध्रुवधन्य, अवश्य धन्य है। मैना—हिमालय की पत्नी। घरनि—गृहिणी, स्त्री। तियमनि—स्त्रियों में श्रेष्ठ है।

अर्थ—बड़े भारी गुणी हिमालय पर्वतों में अवश्य ही धन्य हैं। उनकी स्त्री मैना तीनों लोकों की स्त्रियों में श्रेष्ठ है। (भाव यह कि यह दंपति बहुत श्रेष्ठ है।)

टिप्पणी—(१) इस छंद से कथा-प्रसंग प्रारंभ होता है। इसमें एक दंपति-विशेष का वर्णन किया गया है।

(२) धुरधनि—हिमालय अवश्य ही धन्य है। इसका कारण यही समझ पड़ता है कि पार्वतीजी का जन्म होने से वह भाग्यवान् अथवा धन्य कहे जाने का पात्र है।

(३) इस छंद में 'आन' का छेकानुप्रास तथा 'धर' और 'घर' का लाटानुप्रास है।

कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय तिन्हकर।
लीन्ह जाइ जगजननि जनम जिन्ह के घर ॥७॥

शब्दार्थ—सुकृत—[सु (अच्छा) + कृत (कर्म)]—सत्कर्म, पुण्य। जगजननि—जगन्माता, संसार की माता, जगदंबा, पार्वती।

अर्थ—कहो, उनके पुण्यों की प्रशंसा किस प्रकार की जाय जिनके घर में स्वयं संसार की माता का जन्म (बालिका-रूप में) हुआ।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है।

मंगलखानि भवानि प्रगट जब तें भइ।
तब तें ऋधि सिधि संपति गिरिगृह नित नइ॥८॥

शब्दार्थ—सिद्धि—सफलता, शक्ति-विशेष। वे ये हैं—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व। ऋद्धि—औद्योगिक सफलताएँ—धन, लाभ, भोजन-प्राप्ति आदि। कहा जाता है कि ऋद्धि-सिद्धि गणेशजी की दो स्त्रियाँ हैं।

अर्थ—जब से मंगल-भांडार पार्वतीजी (हिमाचलराज के घर) उत्पन्न हुईं तब से उसके घर में नित्य नई (कभी नष्ट न होनेवाली और नित्य ही नवीन प्रकट होनेवाली) ऋद्धियाँ तथा सिद्धियाँ प्रस्तुत रहती हैं।

टिप्पणी—(१) पार्वतीजी को 'मंगलखानि' कहा गया है। अत: उनके जन्म के साथ मंगल-वस्तुओं की भरमार हो जाना तथ्य-पूर्ण है। रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी लिखते हैं—

जब तें उमा सैलगृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥

(२) इस छंद में छेकानुप्रास अलंकार है।

नित नव सकल कल्यान मंगल मोदमय मुनि मानहीं।
ब्रह्मादि सुर नर नाग अति अनुराग भाग बखानहीं॥
पितु, मातु, प्रिय परिवार हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं।
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—नित—नित्य, प्रतिदिन। भाग (भाग्य)—सौभाग्य। पालहिं लालहीं—पालते हैं तथा लाड़ करते हैं; लालन-पालन करते हैं। सित पाख—शुक्ल पक्ष। चंद्रिका—चाँदनी, चंद्रकला। चंद्रभूषन (चंद्र-भूषण)—शिवजी (क्योंकि उनके मस्तक पर चंद्रमा शोभित है)।

अर्थ—नित्य ही संपूर्ण आनंद-मंगल होते हैं। मुनियों के हृदय आनंदित हैं (क्योंकि इसी पृथ्वी पर विचरण करते रहने के कारण, वे सरलता से पार्वतीजी के दर्शन कर सकते हैं)। ब्रह्मा इत्यादि सभी देवता, पुरुष, सर्प आदि बड़े प्रेम से (हिमाचल तथा मैना के) भाग्य की प्रशंसा करते हैं। माता-पिता, सुहृद्‌जन तथा परिवार के लोग (पार्वतीजी को) देखकर प्रसन्न होते और लालन-पालन करते हैं। बालिका

रूप में पार्वतीजी इस प्रकार बढ़ रही हैं (तथा उनकी वृद्धि के साथ साथ उनकी बढ़ती हुई श्वेत कीर्ति भी उसी प्रकार सुखद है) जिस प्रकार शंकरजी के ललाट पर शोभित चंद्रदेव की, शुक्ल पक्ष में, प्रतिदिन अधिकाधिक निखरती हुई ज्योत्स्ना।

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त उपमा अति सुंदर है। अनुप्रास के साथ उपमा की उपयुक्तता से छंद की मनमोहक शक्ति अत्यधिक बढ़ गई है। पार्वतीजी की बढ़ती हुई शोभा, परिवार का सुख तथा शिव-पार्वती का चंद्र-चंद्रिका का सा उपयुक्त संबंध एक साथ ही हृदय में जागरूक हो उठता है।

रामचरितमानस में पार्वती-विवाह का वर्णन गोसाईंजी ने संक्षेप में किया है। वे स्वयं कहते हैं—

यह इतिहास सकल जग जाना। तातें मैं संक्षेप बखाना॥

उपर्युक्त छंद के स्थान में 'मानस' में इतने ही से सब कुछ प्रकट किया गया है—

नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू॥

(२) इस छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

कुँवरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं।
गिरिजा-जोग जुरिहि बर अनुदिन लोचहिं॥ १०॥

शब्दार्थ—कुँवरि—राजपुत्री, उमा। जुरिहि—प्राप्त हो। अनुदिन—प्रतिदिन। लोचहिं—अभिलाषा करते हैं।

अर्थ—राजपुत्री को सयानी (अधिक आयुवाली) देखकर माता-पिता (मैना तथा हिमालय) रात-दिन यही अभिलाषा करते हैं कि पार्वतीजी के योग्य वर शीघ्र ही मिले।

टिप्पणी—'लोचहिं' का अर्थ देखते हैं भी हो सकता है।

एक समय हिमवान-भवन नारद गये।
गिरिवर मैना मुदित मुनिहि पूजत भये॥ ११॥

शब्दार्थ—पूजत भये—पूजा की।

अर्थ—एक बार नारदजी हिमाचल के घर गए। पर्वतराज और मैना ने उनकी पूजा की।

टिप्पणी—(१) गोस्वामीजी ने इसी बात को 'मानस' में अधिक विस्तार के साथ कहा है—

> नारद समाचार सब पाये। कौतुकही गिरि-गेह सिधाये॥
> सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बड़ आसनु दीन्हा॥
> नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरनसलिल सबु भवनु सिंचावा॥

(२) 'भये' क्रिया के प्रयोग में पंडिताऊपन का प्रभाव है।

(३) दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

उमहिं बोलि ऋषिपगन मातु मेलति भइ।
मुनि मन कीन्ह प्रनाम, बचन आसिष दइ॥१२॥

शब्दार्थ—ऋषि-पगन—नारद ऋषि के चरणों में। मुनि मन—मुनि ने मन में। मेलति भइ—(यह पुराने गद्य-रूप 'मेलते भए' का कविता-प्रयुक्त रूप है) डाला, मिलाया।

अर्थ—मैना ने उमा को बुलाकर ऋषि के चरणों में डाल दिया (अर्थात् प्रणाम कराया)। मुनि ने (उनको जगन्माता जानकर) मन ही मन प्रणाम किया। परंतु ऊपर से अर्थात् वचनों द्वारा आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में यही भाव निम्नलिखित चौपाई में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

> निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनिचरना॥

(२) दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास है।

कुँवरि लागि पितु काँध ठाढ़ि भइ सोहइ।
रूप न जाइ बखानि, जान जोइ जोहइ॥ १३॥

शब्दार्थ—लागि पितु काँध—पिता के कंधे से लगी हुई।

अर्थ—राजकुमारी उमा अपने पिता हिमाचल के कंधे से लगी हुई खड़ी हैं। उनके रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिसने उसे देखा है वही उसको जान सकता है।

टिप्पणी—जान जोइ जोहइ—वही जानता है जो देखता है।

(१) गोसाईंजी कहते हैं कि उस रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। उसका ज्ञान देखकर ही हो सकता है।

(२) जो देखता है वह कह नहीं सकता। यह बिल्कुल सत्य बात है कि किसी पुरुष को जो वस्तु मोह ले उसका वर्णन उतना ही मनोमोहक नहीं हो सकता। अतः दर्शक रूप-लावण्य का पूरा वर्णन कर ही नहीं सकता। हाँ, जान सकता है। गोस्वामीजी का ही कथन है—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

(३) जो कोई देखता है, जान जाता है, अर्थात् दर्शक-हृदय उसी समय उस रूप की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेता है।

(४) मैं उसका वर्णन कैसे करूँ जब देखा ही नहीं।

(५) छंद में स्वभावोक्ति तथा अंतिम पद में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

अति सनेह सतिभाय पाँय परि पुनि पुनि।
कह मैना मृदु बचन "सुनिय बिनती, मुनि॥ १४॥

शब्दार्थ—सतिभाव—सद्भाव से, अच्छे विचारों के साथ।

अर्थ—अत्यंत स्नेह और श्रद्धा के साथ मैनादेवी ने बार बार मुनि के चरणों में प्रणाम करके कोमल स्वर से कहा कि हे मुनिराज, मेरी बिनती सुनिए।

टिप्पणी—छंद के प्रथम पद में छेकानुप्रास, दूसरे में वृत्त्यनुप्रास तथा पुनरुक्तिवदाभास और तीसरे में फिर छेकानुप्रास अलंकार है।

तुम तिभुवन तिहुँ काल बिचारबिसारद।
पारबती-अनुरूप कहिय बर, नारद" ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बिचारबिसारद—परिपक्व तथा ठीक विचार के।

अर्थ—(हे मुनिराज!) आप तीनों लोकों तथा तीनों कालों का ज्ञान रखते हैं। कृपा करके पार्वती के अनुकूल वर बताइए।

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में यही बात प्रकट करने की प्रणाली तनिक भिन्न रूप में हो गई है—

त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष-गुन मुनिबर हृदय बिचारि ॥

(२) पहले पद में वृत्त्यनुप्रास और दूसरे में छेकानुप्रास अलंकार है।

मुनि कह "चौदह भुवन फिरउँ जग जहँ जहँ।
गिरवर सुनिय सरहना राउरि तहँ तहँ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—राउरि—आपकी।

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे गिरिवर! मैं चौदह भुवनों में जहाँ जहाँ गया वहाँ वहाँ आपकी ही प्रशंसा सुनी।

टिप्पणी—(१) चौदह लोक—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक तथा अतल, सुतल, वितल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

(२) इस छंद में पुनरुक्तिवदाभास तथा छेकानुप्रास अलंकार स्पष्ट है।

भूरि भाग तुम सरिस कतहुँ कोउ नाहिंन।
कछु न अगम, सब सुगम, भयो बिधि दाहिन॥१७॥

शब्दार्थ—भूरि भाग—प्रभूतभाग्यशाली। अगम—अप्राप्य।

अर्थ—(नारदजी कहते हैं कि) आप लोगों के सदृश बड़े भाग्यवाला कहीं कोई नहीं है। ब्रह्मा आप लोगों के अनु-कूल है, अतएव आपके लिये कोई पदार्थ अलभ्य नहीं है, सभी सुलभ हैं।

टिप्पणी—'भूरि भाग', 'कतहुँ कोउ' में छेकानुप्रास है। इसी प्रकार 'अगम' और 'सुगम' में भंगपद लाटानुप्रास है।

दाहिन भये बिधि, सुगम सब, सुनि तजहु चित चिंता नई।
वर प्रथम बिरवा विरँचि बिरचो मंगला मंगलमई॥
बिधिलोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही।
हिमवानकन्या जोग वर बाउर बिबुध बंदित सही॥१८॥

शब्दार्थ—बिरवा—पौधा। मंगला—कल्याणी, पार्वतीजी, लता। विरंचि—ब्रह्मा, चतुरानन, चतुर्मुख, विधि। बाउर—वातुल, बावला। बिबुध—देवता।

अर्थ—ब्रह्माजी के अनुकूल होने से सब कुछ सरल हो जाता है, यह सुनकर आप नई नई चिंताओं को त्याग दीजिए। ब्रह्माजी ने वर-रूप पौधा रचकर ही लता-रूप कल्याणी पार्वतीजी

की सृष्टि की है। ब्रह्मलोक में आपके संबंध की बातचीत होने पर ब्रह्माजी ने कहा था कि हिमाचल की कन्या के योग्य वर बावले अवश्य हैं परंतु उनकी वंदना देवगण भी करते हैं।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास सर्वत्र फैले हुए हैं।

मोरेंहु मन अस आव मिलिहि बर बाउर।"
लखि नारद-नारदी उमहिँ सुख भा उर॥१८॥

शब्दार्थ—नारद-नारदी—नारदजी की टेढ़ी बात अर्थात् उनके लक्षणात्मक चमत्कार-युक्त वाक्य।

अर्थ—मेरे मन में भी यही आता है कि उमा को बावला वर मिलेगा। नारदजी के ऐसे रहस्ययुक्त वाक्य सुनकर पार्वतीजी के हृदय में प्रसन्नता हुई।

टिप्पणी—(१) इस छंद में 'लखि' क्रिया का प्रयोग विचित्र है। उससे देखने के स्थान पर सुनने का भाव लिया गया है। यदि 'सुनि' लिख दिया जाता तो अर्थ भी ठीक बैठ जाता और छंद में असंगति भी न आती।

(२) 'मानस' में यही वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥

उक्त ग्रंथ में उमा का हर्ष इस प्रकार प्रकट किया गया है—

सुनि मुनिगिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहिं, उमा हरषानी॥

उक्त पंक्ति का भाव यह है कि पार्वतीजी केवल यह जानकर कि मुनि झूठ तो कहते ही नहीं, सुनते ही प्रसन्न हो उठीं। इससे यह प्रकट होता है कि पार्वतीजी को पूर्वजन्म का स्मरण था, अतः

अपने पति को फिर पाने की आशा से वे प्रसन्न हुईं। यहाँ पर नारदजी के वाक्यों में कोई रहस्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार का कोई विशेष ज्ञान भी न था, यह भी गोसाईंजी ने प्रकट कर दिया है—

नारदहू यह भेदु न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना।

इस प्रकार 'मानस' में इस प्रसंग के वर्णन की प्रकाशन-प्रणाली इस 'मंगल' में प्रयुक्त प्रणाली से नितांत भिन्न है।

(३) इस छंद की प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास है।

सुनि सहमे परि पाइँ, कहत भये दंपति—
"गिरिजहि लागि हमार जिवन सुख संपति ॥२०॥

शब्दार्थ—सहमे—घबराए। लागि—लिये। जिवन—जीवन।

अर्थ—यह सुनकर राजा हिमाचल तथा मैना को दुःख हुआ (जैसा कि ऊपर, "सुनि मुनिगिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहिं, उमा हरषानी" है)। वे नारदजी के पैर पड़कर कहने लगे कि उमा के लिये ही हमारा जीवन, धन और सभी सुख इत्यादि है।

टिप्पणी—(१) 'लिये' के अर्थ में 'लागि' का प्रयोग बहुत प्राचीन है।

(२) प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास है।

नाथ! कहिय सोइ जतन मिटइ जेहि दूषनु।"
"दोषदलनु" मुनि कहेउ "बाल-बिधुभूषनु ॥२१॥

शब्दार्थ—जतन—यत्न। दूषनु—भाग्यदोष। दलनु—नाश करने-वाले। बाल-बिधु—दूज का चंद्र। बाल-बिधुभूषनु—शिवजी।

अर्थ—(पुनः दंपति ने मुनिराज से विनय की कि) हे स्वामी, वह यत्न बतलाइए जिससे मेरी पुत्री के भाग्यदोष का परिहार

हो। मुनि ने कहा कि दोषों के दूर करनेवाले स्वयं भगवान् शिव हैं।

टिप्पणी—'मानस' में हिमाचल ने दोषों के दूर करने का उपाय इस प्रकार पूछा है—

उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ॥

अवसि होइ सिधि, साहस फलै सुसाधन।
कोटि कल्पतरु सरिस संभु-अवराधन॥२२॥

शब्दार्थ—कल्पतरु—कल्पवृक्ष, जो इच्छित फल देने की शक्ति रखता है। सुसाधन—अच्छी युक्ति। अवराधन—सेवा।

अर्थ—शिवजी की सेवा करोड़ों कल्पवृक्षों के समान है, अर्थात् उससे सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं। उनकी सेवा से सिद्धि अवश्य होगी क्योंकि साहस से ही अच्छे साधन सफल होते हैं।

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में इसी भाव को बहुत बढ़ा दिया गया है—

बरदायक प्रनतारति-भंजन। कृपासिंधु सेवक - मन-रंजन॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
× × × × ×
जौं बिबाहु संकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई॥

(२) उक्त छंद में धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

तुम्हरे आस्रम अबहिं ईस तप साधहिं।
कहिय उमहिं मनु लाइ जाइ अवराधहिं"॥२३॥

शब्दार्थ—ईस—महादेवजी। कहिय—कहो। अवराधहिं—आराधना करें।

अर्थ—आजकल शिवजी तुम्हारे आश्रम (कैलास) में ही तप कर रहे हैं। उमा से कहो कि मन लगाकर उनकी आराधना करें।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में—

जो तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

(२) प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

कहि उपाउ दंपतिहि मुदित मुनिवर गये।
अति सनेह पितु मातु उमहिं सिखवत भये॥२४॥

शब्दार्थ—उपाउ—उपाय।

अर्थ—राजा हिमाचल तथा मैना को उपाय बतलाकर नारद मुनि प्रसन्न होकर चले गए। पिता-माता अपनी पुत्री उमा को अत्यंत प्रेम से शिक्षा देने लगे।

(शिक्षा—माता-पिता ने उमा को यह समझाया कि जाकर वन में तप करे ताकि शिवजी ही वर मिलें।)

टिप्पणी—रामचरितमानस में गोसाईंजी ने यह प्रसंग बहुत भिन्न बना दिया है। नारदजी ने जिस वर के लिये तप करने को बताया, उसे मैना ने स्त्री-स्वभाव से ही हेय बताया। हिमाचल ने अपने तर्क से मैना के भ्रम को दूर किया और फिर उससे उमा को समझाने के लिये कहा। मैना जिस समय उमा से कुछ कहना चाहती थीं उसी समय उसने अपना सपना बताया जिसमें उमा से शिव के लिये तप करने को कहा गया था। इस प्रकार उमा ने अपनी माता आदि सभी को समझाया कि उसे तप करने दिया जाय। कुछ अंश यहाँ दिए जाते हैं—

पतिहि एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समझेउ मुनिबैना॥

× × × × ×

"सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहिं।
सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहिं॥
करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी"॥

× × × × ×

मातुपितहि पुनि यह मत भावा। तप सुखप्रद दुख दोष नसावा॥

× × × × ×

मातुपितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप-हित हरषाई॥

सजि समाज गिरिराज दीन्ह सबु गिरिजहि।
बदति जननि "जगदीस जुवति जिनि सिरजहि" ॥२५॥

शब्दार्थ—बदति—कहती है। यह संस्कृत में वद् धातु का, लट् लकार का, अन्यपुरुष एकवचन का रूप है।

अर्थ—हिमवान् ने अनेक प्रकार की सभी (आवश्यक) वस्तुएँ गिरिजा (पार्वतीजी) को दीं। माता मैना कहती है कि ईश्वर युवतियों की सृष्टि न करे।

टिप्पणी—(१) युवती शब्द के प्रयोग से यहाँ पार्वतीजी के विवाह की भावी चिंता तथा कठिनता की ओर संकेत है। यह छंद गिरिजा के वन जाने के समय का है, विवाह के बाद का नहीं। 'जगदीस जुवति जिनि सिरजहि' के प्रत्येक शब्द में माता की ममता तथा व्यथा लिपटी हुई है; क्योंकि उसकी कोमलांगी पुत्री तप के हेतु जा रही है।

(२) 'वदति' ठेठ संस्कृत की क्रिया है जिसका प्रयोग हिंदी में नहीं होता। तुलसीदासजी ने ऐसा कई स्थलों पर किया है।

(३) प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास और दूसरी में वृत्त्यनुप्रास है।

जननि-जनक-उपदेस महेसहि सेवहि।
अति आदर अनुराग भगति मन भेवहि॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भेवहि—भिगोती है।

अर्थ—माता-पिता के उपदेश से पार्वतीजी शिवजी की आराधना किया करती हैं और अपने हृदय को अत्यंत आदर, प्रेम तथा भक्ति के भावों से सिक्त किया करती हैं।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में देखिए—

उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना॥

(२) दोनों पंक्तियों में वृत्त्यनुप्रास है।

भेवहि भगति मन, बचन करम अनन्य गति हरचरन की।
गौरव सनेहु सँकोच सेवा जाइ केहि बिधि बरन की॥
गुन-रूप-जोबन-सींव सुंदरि निरखि छोभ न हर हिये।
ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये॥२७॥

शब्दार्थ—अनन्य गति—तन्मय होकर, पूर्ण रूप से अवलंबित होकर, उस अवस्था में जिसमें 'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास' की स्थिति हो जाय। सँकोच—(१) यहाँ पर प्रयुक्त इस शब्द से प्रेमी के हृदय की उस शिष्ट—उच्छृंखल नहीं—बलवती आकांक्षा की ओर संकेत है जब एकीभूत होने की इच्छा अत्यंत वेगवती हो उठती है, परंतु रहती है मूक ही। (२) यह शब्द यहाँ पर इस अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है कि पार्वतीजी को यह विचार कर संकोच होता हो कि वे शिवजी को पति-रूप में पाने का प्रयत्न कर रही हैं; अर्थात् स्वार्थ के लिये तप कर रही हैं। छोभ (क्षोभ)—विकार, चंचलता। अछत—होते हुए भी। मनसिज—कामदेव। सींव—सीमा। हेतु—कारण की वस्तु।

अर्थ—पार्वतीजी मनसा वाचा कर्मणा एकनिष्ठ होकर अपने को शिवजी की भक्ति में डुबा रखती हैं। उनका स्नेह, गौरव, शील, संकोच और उनकी सेवा वर्णनातीत है। गुण,

रूप तथा यौवन की सीमा स्वरूप पार्वतीजी को देखकर भी शिवजी के मन में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। वे धैर्यवान् हैं जो हृदय में विकार उत्पन्न होने के कारणों के रहते हुए भी कामदेव के वश न होकर उसी को वश में किए रहते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में विशेषोक्ति अलंकार है।

(२) 'गति' का अर्थ युक्ति भी होता है। यहाँ इसका अर्थ 'पहुँच' है।

देव देखि भल समउ मनोज बुलायउ।
कहेउ करिय सुरकाजु, साजु सजि धायउ॥ २८॥

शब्दार्थ—सुरकाजु—देवताओं का कार्य। समउ—समय।

अर्थ—देवताओं ने भला समय देखकर कामदेव को बुलाया और उससे कहा कि देवताओं का कार्य करो। (यह सुनकर) वह अनेक प्रकार से सुसज्जित होकर वहाँ गया (जहाँ शिवजी थे)।

टिप्पणी—(१) यहाँ से मानस का क्रम बहुत बदल जाता है।

(२) देवता लोग तारक नाम के राक्षस से दुःखित थे। उसको शिवजी का पुत्र ही मार सकता था। अस्तु, शिवजी को विवाह के लिये सहमत करना ही देवताओं का कार्य था। इधर सती-दाह के उपरांत शिवजी विरक्त से हो गए थे। वे अखंड तप कर रहे थे, अतः उनके ध्यान को थोड़ा आकृष्ट करके संसार की ओर लाना था।

बामदेव सन काम बाम होइ बरतेउ।
जग-जय-मद निदरेसि हर, पायेसि फर तेउ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—बामदेव—शिवजी, विचित्र प्रकार के देवता। बरतेउ—व्यवहार किया। फर—फल।

अर्थ—कामदेव ने शिवजी के साथ विपरीत व्यवहार किया। सारे संसार को विजय करने के गर्व से उसने उचित-अनुचित का विचार न कर जो शिवजी का अनादर किया उसी का फल उसने पाया (अर्थात् उनके तीसरे नेत्र के कोपानल में वह भस्म हो गया)।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में काम-दहन-वर्णन अत्यंत विशद और सुंदर है, किंतु इस ग्रंथ में वैसा नहीं है।

(२) इस छंद में छेकानुप्रास स्पष्ट है।

रति पतिहीन मलीन बिलोकि बिसूरति।
नीलकंठ मृदु सील कृपामय सूरति॥ ३० ॥

शब्दार्थ—रति—कामदेव की स्त्री। बिसूरति—विलाप करती है। बुंदेलखंड में यह शब्द शोक और गहरी चिंता करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। नीलकंठ—शिवजी, विषपान करने से उनका कंठ नीला पड़ गया था। यहाँ पर इस शब्द का विशेष संकेत है। जिस प्रकार देवताओं का दुःख दूर करने के लिये (जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किअ।—'मानस') शिवजी ने विष पिया उसी प्रकार जन-हितकारी शिवजी रति का भी दुःख दूर करेंगे। उन्होंने उसी दयाभाव से उसे भी देखा।

अर्थ—कोमल चित्तवाले, शीलवान् तथा कृपासागर शिवजी विधवा रति को पति के लिये अत्यंत खिन्न देखकर सोचने लगे।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास के साथ साथ परिकरांकुर अलंकार भी है।

आसुतोष परितोष कीन्ह बर दीन्हेउ।
सिव उदास तजि बास अनत गम कीन्हेउ॥ ३१॥

शब्दार्थ—आसुतोष—शिवजी, शीघ्र ही प्रसन्न हो जानेवाले। इस शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। परितोष—संतोष, धीरज, शांति। उदास—उदासीन, विरक्त। अनत (अन्यत्र)—और कहीं। गम—गमन, यात्रा।

अर्थ—आशुतोष (शिव) जी ने उसे वर दिया और धैर्य बँधाया तथा वहाँ से विरक्त होकर वे अन्यत्र चले गए।

टिप्पणी—(१) शिवजी ने रति को यह वरदान दिया था कि तू अपने पति को कृष्णचंद्रजी के पुत्र-रूप में, मत्स्य के गर्भ से, पावेगी। 'मानस' में—

प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही।
अबतें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंग।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंग॥
जब जदुबंस कृष्ण-अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा॥
कृष्णतनय होइहि पति तोरा। बचन अन्यथा होइ न मोरा॥

(२) इस छंद में भी परिकरांकुर अलंकार है।

उमा नेहबस बिकल देह सुधि बुधि गई।
कलपबेलि बन बढ़त बिषम हिम जनु दई॥ ३२॥

शब्दार्थ—बिषम हिम—कठोर पाला। दई—मार दिया।

अर्थ—(शिवजी) के प्रेम में पार्वतीजी इतनी व्याकुल हुई कि उनको अपने शरीर की सुधबुध ही न रह गई। (उनके अंग

कांतिहीन क्या हो गए) मानों वन में स्वच्छंदता से बढ़ती हुई कल्पवृक्ष की वेलि पाला पड़ने के कारण सूख गई हो।

टिप्पणी—(१) इस प्रसंग में कुछ लोग यह समझने लगते हैं कि काम-नाश का समाचार पाकर उमा व्याकुल हो गईं। उनको ऐसा दुःख हुआ कि वे बेहोश हो गईं। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि अब शिवजी तो प्रेम में प्रवृत्त हो ही नहीं सकते; क्योंकि कामदेव को उन्हीं ने भस्म कर दिया है। किंतु, देवियों के प्रति गोसाईंजी का कभी यह भाव नहीं था। इसका प्रमाण 'मानस' में मिलता है—

कहा हमार न सुनेहु तब नारद कै उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस॥
सुनि बोली मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥
हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥

पार्वतीजी को वियोगजनित दुःख और व्याकुलता तो इसलिये हुई होगी कि शिवजी अन्यत्र चले गये थे।

(२) इस छंद में छेकानुप्रास तथा वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

समाचार सब सखिन जाइ घर घर कहे।
सुनत मातु पितु परिजन दारुन दुख दहे॥ ३३॥

शब्दार्थ—परिजन—कुटुंबी। दहे—जल गए।

अर्थ—सखियों ने जाकर (काम-दहन, शिवजी के स्थानांतर-गमन और पार्वतीजी की व्याकुलता का) समाचार घर घर बताया। उसे सुनकर माता-पिता तथा अन्य कुटुंबी बहुत दुखी हुए अथवा कठिन दुःख से जलने लगे।

टिप्पणी—'घर घर' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

जाइ देखि अति प्रेम उमहिं उर लावहिं।
बिलपहिं बाम बिधातहि दोष लगावहिं॥ ३४॥

शब्दार्थ—बाम—बाईं ओर आए हुए अर्थात् प्रतिकूल परिणाम उपस्थित करनेवाले ब्रह्मा।

अर्थ—(पार्वतीजी के माता-पिता अपनी कोमलांगी पुत्री को देखने जाते हैं। उनकी दशा देखकर वे बड़े दुखी होते हैं।) वे उमा को (धीरज देने के लिये तथा वात्सल्य के कारण) हृदय से लगाते हैं, शोक मनाते हैं और कुटिल विधाता को दोष लगाते हैं।

जो न होहिं मंगलमग सुर बिधि बाधक।
तौ अभिमत फल पावहिं करि स्रमु साधक॥३५॥

शब्दार्थ—बिधि—ब्रह्मा। अभिमत—इच्छित। स्रमु (श्रम)—परिश्रम।

अर्थ—यदि शुभ मार्ग में ब्रह्मा तथा देवता लोग विघ्न न डालें तो साधक लोग, परिश्रम द्वारा, अपने इच्छित फल प्राप्त कर लें।

टिप्पणी—(१) तुलसीदासजी ने इसी प्रकार 'मानस' में भी देवताओं को बुरा कहा है—

'बिघन बनावहिं देव कुचाली।'

(२) 'मानस' में गोस्वामीजी ने ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को स्वार्थी देवताओं के वर्ग में नहीं रखा; किंतु इस स्थान पर ब्रह्मा पर भी विघ्नकारी होने का दोष लगाया गया है।

साधक कलेस सुनाइ सब गौरिहि निहोरत धाम कों।
को सुनइ काहि सोहाइ घर, चित चहत चंद्रललाम कों॥
समुझाइ सबहिं दृढ़ाइ मन, पितु मातु आयसु पाइ कै।
लागी करन पुनि अगमु तपु, तुलसी कहै किमि गाइ कै॥३६॥

शब्दार्थ—निहोरत—बिनती करते हैं। सोहाइ—भला लगे। ललाम—भूषण। अगमु—अगम्य, जो जाना न जा सके।

अर्थ—सब लोग साधकों के कष्टों का वर्णन कर उमा से घर चलने के लिये बिनती करते हैं। पर उसे सुनता कौन? घर किसे भला लगे? (उमा का) हृदय तो चंद्रधारी शिवजी पर अटक रहा है। (इसलिये यह शिक्षा कौन पसंद करे?) पार्वतीजी ने सबको समझाया। माता-पिता से पुनः आज्ञा लेकर वे अपने हृदय में दृढ़ता ग्रहण करके कठिन तप में लग गईं। तुलसीदासजी कहते हैं कि मैं इस अगम्य तप का वर्णन कैसे करूँ।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है।

फिरेउ मातु पितु परिजन लखि गिरिजा-पन।
जेहि अनुरागु लागु, चितु, सोइ हितु आपन॥३७॥

शब्दार्थ—पन—प्रण। हितु—हितू, हितैषी।

अर्थ—पार्वतीजी की दृढ़ प्रतिज्ञा को देखकर माता पिता तथा अन्य कुटुंबी लोग वापस चले गए। (यह सत्य है कि) जिसका मन जिसके साथ रम जाता है वह उसी को अपना हितैषी (और सब कुछ) समझता है।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में वर्णित पार्वती-विवाह का प्रसंग मिलाने योग्य है।

'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि ताही सन काम' ॥

(२) गिरिजा-पन का दूसरा भाव 'दृढ़ता' से इस प्रकार भी मिलता है—गिरि = पर्वत (जो बहुत कड़ा होता है) + जा = लड़की (जो पिता के गुण से कठिन होगी) + पन = भाववाचक प्रत्यय। इस प्रकार इसका उक्त अर्थ पर्वत के गुणवाली कन्या के गुण—'दृढ़ता'—से होता है। स्वयं गोसाईंजी ने 'मानस' में इसी का समर्थन किया है। यथा—

सत्य कहेहु गिरि-भव तनु एहा ! हठ न छूट छूटै बरु देहा ॥
(उमा-वाक्य)

(३) इस छंद में दृष्टांत अलंकार स्पष्ट तो नहीं है परंतु उसका संकेत अवश्य है।

तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु ।
मुनि-मनसहु ते अगम तपहि लायउ मनु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—अहिगन—सर्पों का समूह। मनसहु—मन भी।

अर्थ—पार्वतीजी ने सारे भोगों को रोग की भाँति (भयावह सा समझकर वैसे ही) छोड़ दिया, जैसे लोग साँप से दूर भागते हैं। फिर उन्होंने अपना मन उस कठिन तपस्या में लगाया जिसका चिंतन मुनियों के मन से भी परे है।

टिप्पणी—(१) 'लोग अहिगन जनु' का यह अर्थ भी ठीक होगा कि उमा ने लोगों को इस प्रकार छोड़ दिया मानों वे काट खानेवाले साँप हों और भोगों को उतना हेय समझा जितना कि रोगों को समझा जाता है।

'मुनि-मनसहु'—यदि यहाँ पर केवल मुनियों के लिये अगम तप का ही निर्देश किया जाता तो भी उमा का व्रत छोटा न होता; किंतु 'मुनि-मनसहु ते अगम' कह देने से उमा के व्रत की कठिनता तथा महत्ता और बढ़ जाती है।

(२) इस छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

सकुचहिं बसन बिभूषन परसत जो बपु।
तेहि सरीर हर-हेतु अरंभेउ बड़ तपु॥ ३९॥

शब्दार्थ—बसन—वस्त्र। बिभूषन(विभूषण)—गहने, भूषण, अलंकार। परसत—छूते हुए। बपु—शरीर।

अर्थ—पार्वतीजी के जिस शरीर को (कोमलता के कारण) गहने और वस्त्र भी छूने में सकुचते अथवा हिचकिचाते थे उसी शरीर से पार्वतीजी ने शिवजी के लिये कठिन तप आरंभ किया।

टिप्पणी (१) उक्त देवी-तुल्य बाला में कितना महान् साहस है? मिलाइए मानस की निम्न-लिखित उक्ति—

'अति सुकुमार न तनु तपजोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥'

(२) इस छंद में संबंधातिशयोक्ति अलंकार है।

पूजहि सिवहि, समय तिहुँ करहि निमज्जन।
देखि प्रेम ब्रतु नेमु सराहहिं सज्जन॥ ४०॥

शब्दार्थ—समय तिहुँ—तीनों काल (प्रातः, मध्याह्न और संध्या के समय; इन्हीं समयों में हिंदुओं की त्रयी संध्या का नियम है)। निमज्जन—स्नान।

अर्थ—उमादेवी तीनों समय स्नान तथा शिवजी का पूजन करती हैं। सज्जन लोग उनका प्रेम और व्रत-नियम देखकर उनकी प्रशंसा करते हैं।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

नींद न भूख पियास, सरिस निसि बासरु।
नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु॥ ४१॥

शब्दार्थ—सरिस—समान। बासरु—दिन। हरु—हर, महादेव।

अर्थ—पार्वतीजी को रात्रि और दिन एक से हो गए हैं। न उन्हें नींद आती है और न भूख-प्यास लगती है। उनके नेत्रों में (प्रेम का) जल भरा रहता है, जिह्वा से (उनका प्रियनाम) 'हर' ही निकलता है, शरीर (शिवजी के ध्यान-दर्शन से) पुलकित रहता है तथा उनके हृदय में भगवान् शिव का ही निवास रहता है।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास है।

कंद मूल फल असन, कबहुँ जल पवनहिं।
सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ ४२॥

शब्दार्थ—कंद—बिना रेशे की गूदेदार जड़ें; जैसे शकरकंद, अरुई, आलू, जिमीकंद आदि। मूल—रेशेदार जड़ें; जैसे मूली, गाजर आदि। असन—भोजन। गवनहिं—बीतते हैं।

अर्थ—वे कभी कंद-मूल-फल खाकर और कभी जल ही पीकर दिन बिताती हैं; कभी कभी उनका दिन सूखे बेल के पत्ते खाकर ही बीत जाता है।

टिप्पणी—'गवनहिं' अवधी की विशेष क्रिया है जिसका स्वरूप संस्कृत की गम् धातु से निकला है।

नाम अपरना भयो परन जब परिहरे।
नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥ ४३॥

शब्दार्थ—अपरना (अपर्णा)—पत्ते भी ग्रहण न करनेवाली। धवल—उज्ज्वल।

अर्थ—पार्वतीजी ने जब सूखे पत्तों का खाना भी छोड़ दिया तब उनका नाम 'अपर्णा' हुआ। उनकी नवीन तथा

दिव्य कीर्ति सारे लोकों में फैल गई, अर्थात् चारों ओर उनके तप की प्रशंसा होने लगी।

टिप्पणी—(१) उक्त वर्णन का चित्रण रामचरितमानस में पूरा पूरा किया गया है—

संबत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरस गँवाये॥
कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥
बेलपाति महि परै सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना॥

(२) इस छंद की दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है।

देखि सराहहिं गिरिजहि मुनिबर मुनि बहु।
अस तप सुना न दीख कबहुँ काहू कहुँ॥४४॥

शब्दार्थ—बहु—वधू, स्त्रियाँ।

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ तथा मुनियों की स्त्रियाँ गिरिजा की कठिन तपस्या देखकर उनकी प्रशंसा करती हैं। ऐसी कठिन तपस्या किसी ने कभी और कहीं नहीं देखी-सुनी।

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में यही आशय इस प्रकार है—

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ग्यानी॥

(२) उक्त छंद में विधि तथा अत्युक्ति अलंकार है।

काहू न देख्यो कहहिँ यह तपु जोगु फल फल चारि का।
नहिं जानि जाइ, न कहति, चाहति काहि कुधर-कुमारिका
बटुवेष पेषन पेम पन व्रत नेम ससिसेखर गये।
मनसहि समरपेउ आपु गिरिजहि, बचन मृदु बोलत भये४५

शब्दार्थ—फल चारि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। कुधर—(कु = पृथ्वी + धर = धारण करनेवाला) धरणीधर, पर्वत। कुमारिका—कन्या। कुधर-

कुमारिका--गिरिकन्या, उमा। बटु--ब्रह्मचारी। पेषन--देखना। ससि-सेखर (शशिशेखर)--चंद्रमा है सिर पर जिनके, शिवजी, चंद्रशेखर।

अर्थ--लोग कहते हैं कि ऐसा तप किसी ने नहीं देखा। यह तप चारों फलों को एक साथ प्राप्त करने की क्षमता रखता है। यह नहीं जाना जाता कि पार्वतीजी क्या चाहती हैं और न वे बतलाती ही हैं। एक ब्राह्मण-ब्रह्मचारी का रूप धारण करके शिवजी स्वयं पार्वतीजी के प्रेम, प्रण, व्रत-नियम और संयम आदि की परीक्षा लेने गए। मन से तो उन्होंने अपने को पार्वती के अर्पण कर दिया और मुख से मधुर वचन बोले।

टिप्पणी--(१) 'मानस' में यह परीक्षा सप्तर्षियों द्वारा ली गई है।

(२) तीसरी पंक्ति में छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास है।

देखि दसा करुनाकर हर दुख पायउ।
मोर कठोर सुभाय, हृदय खसि आयउ॥ ४६॥

शब्दार्थ--हृदय खसि आयउ--हृदय पिघल गया, दयार्द्र हो गया।

अर्थ--पार्वतीजी की दशा देखकर दयालु शिवजी अत्यंत दुखी हुए। उनके हृदय में यह विचार आया कि मेरा स्वभाव बड़ा कठोर है (क्योंकि मैंने इतने दिनों तक इस बालिका के तप की ओर ध्यान नहीं दिया)।

टिप्पणी--व्रजभाषा में भी पिछले कवियों द्वारा 'खसि' क्रिया का प्रयोग किया गया है।

बंस प्रसंसि, मातु पितु कहि सब लायक।
अमिअ बचन बटु बोलेउ सुनि सुखदायक॥ ४७॥

शब्दार्थ—अमिअ—अमृत।

अर्थ—बटुरूपधारी शिवजी पार्वतीजी के वंश की और उनके माता-पिता की प्रशंसा करने के उपरांत ऐसे अमृतमय वचन बोले जिनके सुनने से सुख होता था।

टिप्पणी—'सुनि' का अर्थ 'सुनने में' है।

"देवि ! करौं कछु बिनय सो बिलगु न मानब।
कहौं सनेह सुभाय साँच जिय जानब॥ ४८॥

अर्थ—हे देवि ! मैं कुछ विनय करता हूँ; बुरा न मानिएगा। मैं जो कुछ स्वाभाविक रूप से स्नेहवश कहता हूँ उसे आप हृदय में सत्य ही जानिएगा।

टिप्पणी—'बकारांत' क्रिया अवधी की विशेषता है।

जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु-पिता कर।
तीयरतन तुम उपजिहु भव-रतनागर॥४९॥

शब्दार्थ—कर—का। भव—संसार। रतनागर (रत्नाकर)—समुद्र।

अर्थ—हे पार्वतीजी ! संसार-रूपी सागर में आप स्त्री-रूपी रत्न पैदा हुई हैं, अर्थात् आप स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं। आपने जन्म लेकर अपने माता-पिता का यश संसार भर में प्रकाशित कर दिया।

टिप्पणी—इस छंद में रूपक अलंकार है।

अगम न कछु जग तुम कहँ, मोहिं अस सूझइ।
बिनु कामना कलेस कलेस न बूझइ॥ ५०॥

शब्दार्थ—बूझइ—पूछता है।

अर्थ—मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि संसार में कोई भी वस्तु आपके लिये अप्राप्य नहीं है। निष्काम तप करनेवाला

ही कष्ट को कष्ट नहीं समझता। (अतः ऐसा ज्ञात होता है कि आप अकाम तप कर रही हैं; क्योंकि आप बहुत कृशकाय हो गई हैं, तब भी तप का साहस नहीं गया।)

टिप्पणी—इस छंद में विनोक्ति अलंकार है।

जौ बर लागि करहु तपु तौ लरिकाइय।
पारस जौ घर मिलै तौ मेरु कि जाइय॥ ५१॥

शब्दार्थ—लरिकाइय—लड़कपन। पारस—वह पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा स्वर्ण होता है। मेरु—पर्वत। कि—क्यों।

अर्थ—यदि वर के हेतु तप कर रही हैं तो यह आपका भोलापन है। पारस पत्थर यदि घर में ही (सरलता से) मिलता हो तो (कष्ट करके) उसके लिये पहाड़ पर क्यों जाय? (अर्थात् आपके लिये अनेक पुरुष लालायित होकर स्वतः आपके घर आ जायँगे, अतः उसके लिये आपका तप व्यर्थ ही सा है।)

टिप्पणी—इस छंद में काकुवक्रोक्ति है।

मोरे जान कलेस करिय बिनु काजहि।
सुधा कि रोगिहि चाहहि, रतन कि राजहि" ?॥५२॥

शब्दार्थ—कलेस (क्लेश)—कष्ट। सुधा—अमृत।

अर्थ—मेरे विचार से आप व्यर्थ ही क्लेश उठा रही हैं। क्या अमृत स्वयं रोगी को ढूँढ़ता है; अथवा क्या रत्न स्वयं राजा को पाने की इच्छा करता है? (इसके विपरीत रोगी तथा राजा स्वयं ही अमृत तथा रत्न को खोजते हैं। भाव यह कि आपको वर स्वयं ढूँढ़ते आवेंगे और बिना कष्ट के वर मिल जायगा।)

टिप्पणी—इस छंद में दृष्टांत अलंकार है।

लखि न परेउ तपकारन बटु हिय हारेउ।
सुनि प्रिय बचन सखीमुख गौरि निहारेउ ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—परेउ—पड़ा। निहारेउ—देखा।

अर्थ—ब्रह्मचारी हृदय से हार गया अर्थात् दुःखित हुआ क्योंकि उसको पार्वतीजी के तप का कारण न जान पड़ा। उमादेवी ने ऐसे प्रिय वाक्य सुनकर सखियों की ओर देखा।

टिप्पणी—इस छंद में सूक्ष्म अलंकार है।

गौरी निहारेउ सखीमुख, रुख पाइ तेहि कारन कहा।
"तपकरहिहरहितु" सुनिबिहँसिबटुकहत "मुरुखाई महा।
जेहि दीन्ह अस उपदेस बरेहु कलेस करि बर बावरो।
हितलागिकहौं सुभाय सो बड़ बिषम बैरी रावरो ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—रुख पाइ—इच्छा समझकर। तेहि—उससे। हरहितु—हर के हेतु, महादेव के लिये।

अर्थ—पार्वतीजी ने सखियों की ओर देखा। उनकी इच्छा पाकर उन्होंने उस बटु से कहा—"शिवजी को पाने के लिये तप कर रही हैं।" यह सुनकर ब्रह्मचारी हँसकर बोला—"यह बड़ी भारी मूर्खता है। जिसने आपको ऐसा उपदेश दिया है कि इतना कष्ट उठाकर बौरहे वर की याचना करें वह, मैं सत्य ही स्वभावतः आपके कल्याण की दृष्टि से बताए देता हूँ कि, आपका बड़ा भारी वैरी है।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास है।

कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहिं ।
अगुन अमान अजाति मातु-पितु-हीनहिं ॥५५॥

शब्दार्थ—(१) अकुलीनहिँ—कुजाति । (२) अगुन—गुणहीन । (३) अमान—मर्यादाहीन । (४) अजाति—जाति से हीन, बेजात ।

उक्त शब्दों के श्लेषार्थ—

१—(१) जिसका कोई विशेष परिवार नहीं, (२) (अकु = कठिन तप का दुःख + लीन = मग्न) बड़ा तपस्वी । २—तीनों गुणों से परे । ३--जिसकी सीमा न हो । ४—जिसकी कोई जाति न हो, ईश्वर ।

मातु-पितु-हीन—(१) अज, (२) जिसके माता-पिता का ठिकाना न हो ।

अर्थ—भला यह तो बतलाइए कि किस गुण को सुनकर आप शिव पर इतनी अनुरक्त हैं । वे तो गुणहीन, मान-रहित, बिना जातिवाले तथा माता-पिता से भी रहित हैं ।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में—

निर्गुन निलज कुबेष कपाली । अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥
कहहु कवन सुख अस बरु पायें ।........... ॥

(२) इस छंद में श्लेष से पुष्ट व्याजस्तुति अलंकार है ।

भीख माँगि भव खाहिं, चिता नित सोवहिं ।
नाचहिं नगन पिसाच, पिसाचिनि जोवहिँ ॥५६॥

शब्दार्थ--भव--महेश अथवा संसार । जोवहिं--देखते हैं ।

अर्थ—शिवजी भीख माँगकर खाते हैं और नित्यप्रति चिता पर सोते हैं । पिशाचों के समान नग्न नाच करते और पिशाचियों को देखा करते हैं ।

टिप्पणी—'मानस' में—

अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं।

× × × ×

तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥

इत्यादि वर्णन शिवजी के रूप-वर्णन के स्थान पर पार्वतीजी के परीक्षकों से कहलाया गया है।

भाँग धतूर अहार, छार लपटावहिं।
जोगी, जटिल, सरोष, भोग नहिं भावहिं॥५७॥

शब्दार्थ—छार (क्षार)—राख। जटिल—जटाधारी। सरोष—क्रोधी।

अर्थ—उनका भोजन भाँग तथा धतूरा आदि हैं। वे अपने अंगों में राख (भस्म) लपेटे रहते हैं। वे जोगी, जटाधारी और क्रोधी हैं। उन्हें भोग-लिप्सा नहीं है (अर्थात् वे विवाह भले ही कर लें किंतु उनसे यह आशा नहीं कि वे सुख पहुँचावेंगे।)

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास अलंकार है।

सुमुखि सुलोचनि ! हर मुखपंच, तिलोचन।
बामदेव फुर नाम, काम-मद-मोचन॥ ५८॥

शब्दार्थ—मुखपंच—पाँच मुँहवाले। तिलोचन—तीन नेत्रोंवाले। ये दोनों ही शब्द यह प्रकट करते हैं कि सुमुखि और सुलोचनि के वरण करने योग्य कोई बात शिवजी में नहीं है। स्त्रियाँ रूप-सौंदर्य पर विशेष मुग्ध रहती हैं; इसी कारण रूप-विपर्यय बताकर घृणा होगी या नहीं, इसकी परीक्षा गोसाईंजी ने बहुत ही अच्छे प्रकार से, स्वाभाविकता को जानकर, कराई है। फुर—सत्य।

अर्थ—हे सुंदर मुखवाली तथा सुंदर नेत्रोंवाली! महादेव-जी तो पाँच मुँहवाले तथा तीन आँखोंवाले हैं। उनका नाम वामदेव अर्थात् उलटे देवता (दुष्ट देवता) सत्य ही है। फिर वे कामदेव के गर्व का नाश करनेवाले हैं। (भाव यह कि वैवाहिक सुख की आशा उनसे कदापि नहीं हो सकती।)

टिप्पणी—(१) वामदेव का अर्थ 'स्त्री-पूजक' तथा काम-मद-मोचन का अर्थ अति सुंदर लेकर उत्तम भी समझा जा सकता है।

(२) इस छंद में श्लेष से परिपुष्ट व्याजस्तुति अलंकार है; साथ ही साथ परिकरांकुर अलंकार भी है।

एकउ हरहि न बर गुन, कोटिक दूषन।
नरकपाल, गजखाल, ब्याल, बिष भूषन॥ ५९॥

शब्दार्थ—कोटिक—करोड़ों। दूषन—दोष। कपाल—खोपड़ी।

अर्थ—शिवजी में वर के योग्य एक भी गुण नहीं है; करोड़ों दोष ही दोष भरे हैं। मनुष्यों की खोपड़ियाँ, हाथी का चर्म तथा सर्प और विष उनके भूषण हैं।

टिप्पणी—'भूषण'—उनके आभूषण हैं, अर्थात् उन्हें प्रिय हैं।

कहँ राउर गुन सील सरूप सुहावन।
कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥ ६०॥

शब्दार्थ—अमंगल—अशकुन। बिशेषु—विशेषकर, बहुत ही।

अर्थ—कहाँ तो आपका गुण, चरित्र और सुहावना सुंदर स्वरूप और कहाँ शिवजी का अमंगल वेष जो अत्यंत भय-प्रद है! (वे आपके योग्य वर कदापि नहीं हैं।)

टिप्पणी—पहली पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है।

जो सोचिहि ससिकलहि सो सोचिहि रौरेहि।
कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरेहि॥ ६१॥

शब्दार्थ—ससिकलहि = चंद्रकला को। रौरहि = आपको।

अर्थ—जो सदा चंद्रकला को प्रसन्न करने की चिंता किया करता है वह आपकी क्या चिंता करेगा? (भाव यह कि शिवजी के एक अन्य पत्नी भी है, अतः वे केवल आपकी ही प्रसन्नता की बात न देखेंगे तथा आप स्वतंत्रता से अकेले उनसे मिल भी न सकेंगी)। अतः मेरा कहना मानकर पागल वर को न वरिए।

टिप्पणी (१)—इस छंद में स्त्रियों के सौतिया डाह की ओर भी संकेत है। यह तथ्यपूर्ण ही है कि कोई स्त्री सौत की उपस्थिति नहीं चाहती। अस्तु, जहाँ सौत का भय है वहाँ गिरिजा अपने को न ले जावे, यह साधारण आशा की बात हो सकती है। अत: यह छंद एक बड़ी कठिन कसौटी है जिस पर उमा का रंग खिल जायगा।

(२) 'सोचिहि' पाठ से तो ऊपर का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है परंतु नागरी-प्रचारिणी-ग्रंथावली में 'सोचहि' पाठ है। अतएव यह भी संकेत हो सकता है कि जो शोक शिवजी अपनी पहली स्त्री शशिकला को दे रहे हैं वही आपको मिलेगा। अर्थात् न तो पहली स्त्री सुखी है और न आप ही सुखी रहेंगी।

(३) इस छंद में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

हिये हेरि हठ तजहु, हठै दुख पैहहु।
ब्याह-समय सिख मोरि समुझि पछितैहहु॥ ६२॥

शब्दार्थ—हेरि—विचारकर। सिख—शिक्षा।

अर्थ—आप हठ को छोड़ें और मन में विचार करें। हठ करने से आप दुख पावेंगी। ब्याह के समय मेरी शिक्षा को याद करके पछतायँगी।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है।

पछिताब भूत पिसाच प्रेत जनेत ऐहैं साजिकै।
जमधार सरिस निहारि सब नर नारि चलिहहिं भाजिकै॥
गजअजिन दिव्य दुकूल जोरत सखी हँसि मुख मोरिकै।
कोउ प्रगट कोउ हिय कहिहि 'मिलवत अमिअ माहुर घोरिकै' ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ—जनेत—बारात। जमधार—यमसेना। अजिन—खाल। दुकूल—रेशमी कपड़ा। माहुर—विष।

अर्थ—जिस समय शिवजी भूतों, प्रेतों और पिशाचों की बारात लेकर आवेंगे, सभी स्त्री-पुरुष उसे यमसेना की भाँति देखकर (डर से) भागेंगे। जिस समय आपकी सखी आपके सुंदर वस्त्रों से शिवजी के हाथी के चमड़े के साथ गठबंधन करेगी उस समय मुँह छिपाकर हँसेगी। कोई स्पष्ट कह उठेगी और कोई मन में कहेगी कि अमृत और विष को मिलाया जाता है।

टिप्पणी—इस छंद में ललित अलंकार है।

तुम्हहिं सहित असवार बसह जब होइहहिं।
निरखि नगर नर नारि बिहँसि मुख गोइहहिं" ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—असवार—सवार। बसह (वृषभ)—नंदी, बैल। गोइहहिँ—छिपावेंगी।

अर्थ—जब शिवजी आपके साथ नंदी पर सवार होंगे तब नगर के सभी स्त्री-पुरुष देखकर हँसकर मुँह छिपा लेंगे।"

टिप्पणी—इस छंद में वृत्त्यनुप्रास है।

बटु करि कोटि कुतर्क जथारुचि बोलइ।
अचल-सुता-मन अचल बयारि कि डोलइ ?॥ ६५॥

शब्दार्थ—कुतर्क—कमजोर युक्तियों के सहारे का तर्क। जथारुचि—यथेच्छ। अचल-सुता—गिरिजा। अचल—स्थिर, गिरि। बयारि—वायु।

अर्थ—ब्रह्मचारी करोड़ों बातें गढ़ गढ़, जो मन में आता है, कहता है। गिरिजा का मन विचलित होनेवाला नहीं, वह एक पर्वत की भाँति है। पवन क्या उसे डिगा सकता है ? (अर्थात् जन-दृष्टि-भय, असुख-भय आदि के झोंके उमा के हृदय पर प्रभाव नहीं डाल सके।)

टिप्पणी—इस छंद में परिकरांकुर अलंकार है।

साँच सनेह साँचि रुचि जो हठि फेरइ।
सावनसरित सिंधुरुख सूप सों घेरइ॥ ६६॥

शब्दार्थ—रुचि—लगन, चित्तवृत्ति। सावनसरित—श्रावण मास की भाँति बढ़ी हुई नदी। सिंधुरुख—समुद्र की ओर बहनेवाली। सूप—बाँस का बना हुआ पछोरने का पात्र।

अर्थ—जो हठ करके सत्य स्नेह और सच्ची लगन को (तर्क-वितर्कों द्वारा) फेर देना चाहता है वह उसी प्रकार निष्फल रहेगा जैसे कि समुद्र की ओर (धावा बोलकर जानेवाली) बरसाती नदी की धार को सूप से रोकनेवाला।

टिप्पणी—इस छंद में दृष्टांत अलंकार है। 'स' की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

मनि बिनु फनि, जलहीन मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ॥ ६७॥

शब्दार्थ—मनि (मणि)—एक प्रकार का रत्न जो प्रकाशित रहता है। फनि (फणि)—सर्प। कहते हैं कि पुराने काले साँप के सिर से एक मणि निकलती है। जब वह ओस चाटने के लिये निकलता है तब मणि निकाल-कर रख देता है। यदि उसी समय वह मणि उसे उस स्थान पर न मिले तो वहीं सर पटक पटककर वह प्राण दे देता है। जलहीन मीन—यह दैनिक अनुभव की बात है कि मछली जल के बाहर अधिक देर तक जीवित नहीं रहती।

अर्थ—जैसे मणि के बिना सर्प और जल के बिना मछली प्राण त्याग देती है (और वे मणि अथवा जल के दोषों पर ध्यान नहीं देते) वैसे ही जिसका मन जिससे लग जाता है वह उसके दोषों को नहीं गिनता (उसके प्रेम में अपना जीवन उत्सर्ग कर देने की अभिलाषा करता है)।

टिप्पणी—(१) इस छंद में दृष्टांत तथा काकुवक्रोक्ति अलंकार हैं।

(२) रहीम कहते हैं—

'जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।'

प्रेम-पात्र की ऐसी ही उपेक्षा तथा उसके दोषों की ओर संकेत है।

करनकटुक बटु-बचन बिसिष सम हिय हये।
अरुन नयन चढ़ि भृकुटि, अधर फरकत भये ॥६८॥

शब्दार्थ—करनकटु (कर्णकटु)—अप्रिय। बिसिष (विशिख)—बाण। हये—लगे, हने। अरुन—लाल। अधर—ओंठ।

अर्थ—बटु की अप्रिय बातें पार्वतीजी के हृदय में बाणों की भाँति लगीं। उनकी भौंहें चढ़ गईं, नेत्र लाल हो गए और ओंठ काँप उठे।

टिप्पणी—(१) इस छंद में भाव, विभाव और अनुभाव, सभी स्पष्ट हैं।

(२) इस छंद में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

बोली फिरि लखि सखिहि काँपु तनु थरथर।
"आलि ! बिदा करु बटुहि बेगि, बड़ बरबर ॥६८॥

शब्दार्थ—आलि—हे सखी। बरबर—बड़बड़ानेवाला, बकवादी।

अर्थ—(क्रोध से) पार्वतीजी का शरीर काँपने लगा। वे सखी की ओर देखकर बोलीं—"हे सखी ! इस ब्रह्मचारी को शीघ्र बिदा करो। यह बड़ा बकवादी है।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास स्पष्ट है।

कहुँ तिय होहिं सयानि सुनहिं सिख राउरि।
बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि ॥ ७० ॥

शब्दार्थ—सयानि—चतुर। बौरेहि के अनुराग—पागल के प्रेम में।

अर्थ—(पार्वतीजी ने ब्रह्मचारी से कहा—)जहाँ चतुर स्त्रियाँ हों वहाँ (जाइए) वे आपकी शिक्षा सुनेंगी। मैं तो पगले के प्रेम में पगली हो गई हूँ।

टिप्पणी—(१) जब किसी की बात नहीं सुननी होती तो लोग किसी प्रकार का बहाना करके या तो स्वयं टल जाते हैं अथवा कोई आशा देकर उसको टाल देते हैं। किंतु बिना उत्तर दिए ही बात को टाल देना सबको अशिष्ट व्यवहार मालूम पड़ता है। इसी भाव से प्रेरित होकर उमा ने भी उत्तर देना आवश्यक समझा। प्राय: उत्तर के उपरांत भी बात करनेवाला उत्तर पर टिप्पणी करने लगता है और अपने मनोरथ को मनवा लेने की चेष्टा करता है। फलत: वार्ता का क्रम नहीं टूटने पाता। अतएव बातचीत का सिलसिला

तोड़ने के लिये पार्वतीजी ने कह दिया—"मैं पगली हो गई हूँ।" किंतु साथ ही उन्होंने यह भी प्रकट कर दिया कि मैं अब भी पूर्ण रूप से उन्हीं (शिवजी) को चाहती हूँ। यह वाक्चातुर्य्य की महत्ता है।

(२) इस छंद में उल्लास अलंकार है।

दोसनिधान, इसानु सत्य सबु भाषेउ।
मेटि को सकइ सो आँकु जो बिधि लिखि राखेउ?॥७१॥

शब्दार्थ—दोसनिधान—बुराइयों के घर। इसानु (ईशान)—शिवजी। आँकु—अंक, अक्षर।

अर्थ—आप जो कहते हैं सभी सत्य है; शिवजी बुराइयों के घर हैं, किंतु ब्रह्मा ने (मेरे भाग्य में) जो लिख दिया है उसे कौन मेट सकता है?

टिप्पणी—(१) इस छंद का भाव यह कदापि नहीं है कि पार्वतीजी भाग्य पर रोती हैं अथवा वे शिवजी को बुरा कहती हैं। यह तो छुटकारा पाने के लिये व्यंग्यपूर्ण उक्ति है।

(२) इस छंद में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

को करि बादु बिबादु बिषादु बढ़ावइ?।
मीठ काह कबि कहहिँ जाहि जोइ भावइ॥ ७२॥

शब्दार्थ—बादु बिबादु—बहस, तर्क। बिषादु—दुःख, झगड़ा।

अर्थ—वाद-विवाद करके दुःख कौन बढ़ावे? कवि किसको मीठा कहते हैं? जिसको जो अच्छा लगता है उसी को। (भाव यह कि आपको शिवजी बुरे लगते हैं इसलिये वे मुझे भी बुरे नहीं लगेंगे।)

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

भइ बड़ि बार आलि कहुँ काज सिधारहिं।
बकि जनि उठहिं बहोरि, कुजुगुति सँवारहिं ॥७३॥

शब्दार्थ—बार—देर। बहोरि—फिर। कुजुगुति—कुयुक्ति।

अर्थ—हे सखी, बड़ी देर हुई। चलो, अपने काम से चलें। यह फिर कुछ न कहने लगे और कोई बुरी युक्ति न रच ले (अर्थात् शिवजी की और बुराई न सुनावे)।

टिप्पणी—'सिधारहिं' क्रिया का कर्त्ता छिपा हुआ 'बटु' भी हो सकता है। तब अर्थ इस प्रकार होगा—'हे सखी! बड़ी देर हो गई। अब इसे कहीं (दूसरे) काम से चला जाना चाहिए।

जनि कहहिं कछु बिपरीत जानत प्रीतिरीति न बात की।
सिव-साधु-निंदकु मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी॥"
सुनि बचन सोधि सनेहु तुलसी साँच अबिचल पावनो।
भये प्रगट करुनासिंधु संकर, भाल चंद्र सुहावनो॥७४॥

शब्दार्थ—सोधि—जाँचकर। पावनो—पवित्र। करुनासिंधु—दयालु। भाल—मस्तक।

अर्थ—यह बटु न तो प्रेम का ढंग जानता है और न बात करने का ही। अतः कुछ प्रतिकूल बातें न कर बैठे। साधु शिवजी की निंदा करनेवाला तो नीच होता ही है किंतु जो सुनता है उसे भी बड़ा पाप लगता है।" तुलसीदासजी कहते हैं कि इन स्नेह से भरे हुए शब्दों को सुनकर और उनके प्रेम को पवित्र तथा अटल जानकर दयासागर शिवजी प्रकट हो गए। उनके ललाट में चंद्रमा शोभित हो रहा था।

टिप्पणी—यह बात ध्यान देने योग्य है कि उमा आदि शिवजी को विशेषकर चंद्रशेखर रूप में ही जानती थीं। इसी रूप में सौंदर्य भी है।

सुंदर गौर सरीर भूति भलि सोहइ।
लोचन भाल बिसाल बदनु मनु मोहइ॥ ७५॥

शब्दार्थ—भूति—राख, विभूति। बदनु—मुख।

अर्थ—शिवजी के सुंदर गोरे शरीर में भस्म बड़ी ही भली लगती है। उनके नेत्र, उनका विशाल ललाट तथा मुँह बड़ा मनमोहक है।

टिप्पणी—इस छंद में स्वभावोक्ति अलंकार है।

सैलकुमारि निहारि मनोहर मूरति।
सजल नयन हिय हरषु पुलक तनु पूरति॥ ७६॥

शब्दार्थ—सैलकुमारि—गिरिजा। निहारि—देखकर।

अर्थ—शिवजी की सुंदर मूर्ति देखकर पार्वतीजी के नेत्रों में जल भर आया। उनका हृदय हर्षित हो उठा और शरीर पुलकायमान हो गया।

टिप्पणी—इस छंद में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

पुनि पुनि करै प्रनाम, न आवत कछु कहि।
"देखौं सपन कि सौँतुख ससिसेखर, सहि!"॥७७॥

शब्दार्थ—सौँतुख—सचमुच, साक्षात्। सहि—सखि।

अर्थ—पार्वतीजी शिवजी को बार बार प्रणाम करती हैं। उनसे कुछ कहते नहीं बनता। "हे सखी! मैं स्वप्न में शिवजी को देख रही हूँ या प्रत्यक्ष?" (क्या मेरी परमोत्तम वस्तु मुझे प्राप्त हो रही है?)

टिप्पणी—इस छंद में वृत्त्यनुप्रास तथा पुनरुक्तिवदाभास अलंकार हैं।

जैसे जनमदरिद्र महामनि पावइ।
पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ—जनमदरिद्र—जन्म से ही कंगाल। महामनि—चिंतामणि; एक दैवी मणि जिससे मुँहमाँगी वस्तु तुरंत मिल जाती है। पेखत—देखते हुए।

अर्थ—जैसे जन्म से ही दरिद्र व्यक्ति को चिंतामणि प्राप्त हो गई हो ("जनम-रंक जनु पारस पावा") और वह उसका प्रभाव तो प्रकट देख रहा हो किंतु उसे विश्वास न होता हो, वैसे ही पार्वतीजी को विश्वास नहीं होता कि शिवजी ही हैं यद्यपि वे साक्षात् दिखाई दे रहे हैं।

टिप्पणी—इस छंद में दृष्टांत अलंकार है।

सफल मनोरथ भयउ, गौरि सोहइ सुठि।
घर तें खेलन मनहुँ अबहिं आई उठि ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ—सुठि—सुंदर, अधिक।

अर्थ—पार्वतीजी के मनोरथ सफल हुए। अब वे इतनी सुंदर प्रतीत होती हैं मानों अभी घर से खेलते खेलते उठ आई हों (अर्थात् इतनी प्रफुल्लित हो गईं कि कोई उन्हें तप से क्षीणकलेवर नहीं कह सकता)।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

देखि रूप अनुराग महेस भये बस।
कहत बचन जनु सानि सनेह-सुधा-रस ॥ ८० ॥

शब्दार्थ—सानि—संयुक्त करके। सनेह-सुधा-रस—प्रेम-रूपी अमृत।

अर्थ—पार्वतीजी का रूप और प्रेम देखकर शिवजी अनुरक्त हो गए अथवा उनके वशीभूत हो गए। वे मानो प्रेमरूपी अमृत से मिले हुए शब्द बोले—

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में 'रूप' शब्द विचारणीय है। वह सुंदर शरीर का भी बोधक है जिसका उल्लेख इससे पहले के छंद में किया गया है। इसके अतिरिक्त उससे यह भी बोध होता है कि उनका शरीर क्षीण है, तो भी उनका पूर्ण अनुराग शिवजी से ही है जिनके तप में वह क्षीण हुआ है।

(२) 'भये बस' का अर्थ द्रवित हो जाना है; क्योंकि 'सनेह-सुधा-रस' में प्रेम को स्थान नहीं दिया गया। वहाँ 'सनेह' का लावण्य है।

(३) इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

"हमहिं आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ।
पारबती तप प्रेम मोल मोहिं लीन्हेउ॥ ८१॥

शब्दार्थ—लगि—तक। कनउड़—आभारी, एहसानमंद।

अर्थ—"मुझे आज तक किसी ने (इतना) आभारी नहीं कर पाया था किंतु पार्वती के तप तथा प्रेम ने मुझे मोल ले लिया (अर्थात् मैं पूर्ण रूप से उनके वश में हो गया)।

टिप्पणी—'कनउड़' शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में भी इसी अर्थ में होता है।

अब जो कहहु सो करउँ बिलंब न यहि घरि।"
सुनि महेस मृदु बचन पुलकि पायँन परि॥ ८२॥

अर्थ—अब जो कहो वह मैं करूँ। इस घड़ी उसके करने में कोई विलंब न होगा।" शिवजी के ये प्रिय शब्द सुनकर उमा पुलकित होकर उनके चरणों पर गिर पड़ीं।

टिप्पणी—अंत की 'परि' क्रिया पूर्वकालिक नहीं है। वह सामान्यभूत की क्रिया है।

परि पाँय सखिमुख कहि जनायो आप बाप-अधीनता।
परितोष गिरिजहि चले बरनत प्रीति नीति प्रबीनता॥

हर हृदय धरि घर गौरि गवनी, कीन्ह बिधि मनभावनो।
आनंद प्रेम समाज मंगलगान बाजु बधावनो ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—सखिमुख—सखी के मुँह से। आप—स्वयं, अपने। परितोषि—समझाकर। प्रबीनता—चतुराई।

अर्थ—पार्वतीजी ने चरण-स्पर्श करके सखी द्वारा शिवजी से पिता के अधीन होने की बात प्रकट कर दी। वे पार्वतीजी को धीरज देकर उनके प्रेम, नीति और चतुरता की प्रशंसा करते हुए चले गए। पार्वतीजी शिवजी को हृदय में रखती हुई घर गईं। ब्रह्माजी ने उनका मनचाहा किया। सारा समाज आनंद और प्रेम से भरकर विविध मंगल-गान करने और बधावे बजाने लगा।

टिप्पणी—'कहि जनायो आप बाप अधीनता'—

(१) यह कह दिया कि मैं अपने पिता के अधीन हूँ।

(२) यह कहा कि मैं आपके और पिता के अधीन हूँ।

(३) मेरी इच्छा है कि आपके ही साथ मेरा ब्याह हो। इसका निश्चय मेरे पिताजी ही कर सकते हैं।

सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिर नाइन्हि।
कीन्ह संभु सनमानु जनमफल पाइन्हि ॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—सुमिरे—स्मरण किया। मुनि सात—सप्तर्षि। कश्यप, अत्रि, गौतम, जमदग्नि, विश्वामित्र, वशिष्ठ और भरद्वाज, ये सात ऋषि। (कहा जाता है कि) ये महर्षि अब भी सप्तनक्षत्र या सतभैया के नाम से आकाश में स्थित हैं। सनमानु—सत्कार, संमान।

अर्थ—शिवजी ने सप्तर्षियों का स्मरण किया। उन्होंने आकर शिवजी को प्रणाम किया। शिवजी ने उनका सत्कार किया। मुनियों ने जन्म-फल पाया।

टिप्पणी—स्मरण करने का एक अर्थ है केवल ध्यान करना और दूसरा बुलवाना भी।

"सुमिरहिं सुकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृतीबर।
नाथ जिन्हहिं सुधि करिअ तिन्हहिं सम तेइ, हर!"८५

शब्दार्थ—सुकृत—पुण्यात्मा, धर्मवान्। सुकृतीबर—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ। सुधि करिअ—स्मरण करें। सम—समान।

अर्थ—(मुनियों ने कहा) कि हे शिवजी! जो आपका पुण्य स्मरण करते हैं वे ही श्रेष्ठ पुण्यात्मा हैं; किंतु आप स्वयं जिनकी सुधि करें उनके समान तो वे ही हैं अर्थात् उनकी समता और कोई कर ही नहीं सकता।

टिप्पणी—इस छंद में अनन्वयोपमा अलंकार है।

सुनि मुनिबिनय महेस परम सुख पायउ।
कथाप्रसंग मुनीसन्ह सकल सुनायउ॥ ८६॥

अर्थ—सप्तर्षियों की विनती सुनकर शिवजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मुनीश्वरों से (पार्वती-संबंधिनी) सारी कथा कह सुनाई।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

"जाहु हिमाचल-गेह प्रसंग चलायहु।
जौ मन मान तुम्हार तौ लगन लिखायहु॥ ८७॥

शब्दार्थ—प्रसंग—वार्ता, चर्चा। लगन—विवाह-मुहूर्त।

अर्थ—"हे मुनीश्वरो, आप लोग हिमाचल के घर जायँ और वहाँ पर विवाह की चर्चा करें। यदि आप लोगों की इच्छा के अनुकूल संबंध स्थिर हो जाय तो विवाह की लग्न लिखा लीजिएगा।

टिप्पणी—यहाँ पर यह तर्क उठता है कि वरपत्तवालों का कन्या के यहाँ जाना तो रीति-विरुद्ध है, फिर गोस्वामीजी ने ऐसा क्यों लिखा। संभव है, उस समय और इस समय की रीति में अंतर हो गया हो और उस समय वैसा ही रवाज रहा हो। और इसी प्रसंग में गोस्वामीजी ने सप्तर्षियों को, शिवजी की ओर से, भेजने की परिस्थिति की रचा पहले ही से कर ली थी। क्योंकि उमा अन्यत्र 'बाप-अधीनता' प्रकट कर चुकी हैं।

अरुंधती मिलि मैनहि बात चलाइहि।

नारि कुसल इहि काजु, काजु बनि आइहि" ॥ ८८ ॥

शब्दार्थ—बात चलाइहि—प्रसंग छेड़ेगी।

अर्थ—अरुंधती (वशिष्ठजी की स्त्री) मैना से मिलकर (संबंध की) बात करेंगी। स्त्रियाँ इस कार्य में निपुण होती हैं। अरुंधती के बातचीत करने से कार्य सिद्ध होगा।" (अर्थात् विवाह पक्का हो जायगा)। (उक्त छंद से यह स्पष्ट है कि शिवजी को यह पूर्ण ज्ञान था कि उमा की माता के मान जाने से यह काम पूरा हो जायगा। अवश्य ही स्त्रियाँ मर्यादा का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर रखती हैं।)

टिप्पणी—'काजु' की आवृत्ति में लाटानुप्रास है।

"दुलहिनि उमा, ईस बर, साधक ये मुनि।

बनिहि अवसि यहु काज" गगन भइ अस धुनि ॥ ८९ ॥

शब्दार्थ—गगन—आकाश। धुनि (ध्वनि)—शब्द, वाणी।

अर्थ—"दुलहिन पार्वतीजी हैं और वर शिवजी। इस संबंध के पक्का करनेवाले स हैं। अतः यह काम अवश्य होगा।" ऐसी आकाशवाणी हुई।

टिप्पणी—देवता के विवाह में ऐसी देववाणी का आयोजन करना उचित ही है।

भयउ अकनि आनंद महेस मुनीसन्ह।
देहिं सुलोचनि सगुन-कलस लिये सीसन्ह ॥८०॥

शब्दार्थ—अकनि (आकर्ण्य)—सुनकर। सुलोचनि—सुंदर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ। सगुन-कलस—जल से भरे हुए घड़े।

अर्थ—(आकाशवाणी सुनकर) शिवजी तथा मुनियों को बड़ा हर्ष हुआ। सुंदर नेत्रोंवाली स्त्रियों ने सिर पर जल से भरे हुए घड़े धारण करके सगुन जनाया।

टिप्पणी—इस स्थान पर यह जानकर कि स्त्रियों ने सगुन जनाया, ऐसा प्रतीत होता है कि उस स्थान के पास ही, जहाँ शिवजी यह वार्ता कर रहे थे, कोई गाँव था जिसकी वे पनिहारिनें थीं। किंतु यह स्थान गाँव से अवश्य दूर था; क्योंकि वहाँ रहने-वाली उमा आश्रम में तप करने आई हैं ऐसा प्रकट किया जा चुका है। अत: संभवत: उनकी सखियों ने ही, जो वहाँ थीं (और जिनकी उपस्थिति कथा में आए हुए उनके वाक्यों से प्रकट होती है), यह सगुन किया होगा। अथवा, यह शकुन मुनियों को मार्ग में हुआ होगा (ऐसा मानने से ८१वें छंद की अगली पंक्ति स्थान-विरुद्ध होती है)। यह भी कल्पना की जा सकती है कि भगवान् शिवजी के विवाह की मंगल-कामना के लिये उनकी निकट निवा-सिनी ऋद्धियों और सिद्धियों ने सुंदर रमणियों का रूप धारण करके मंगल-कलश सिर पर रखकर शकुन की सूचना दी हो। यही कल्पना समीचीन प्रतीत होती है।

सिव सों कहे दिन ठाउँ बहोरि मिलनु जहँ।
चले मुदित मुनिराज गये गिरिबर पहँ ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ—ठाउँ—ठौर, स्थान। बहोरि—फिर, पुनः।

अर्थ—शिवजी से पुनर्मिलन का स्थान तथा दिन बताकर मुनिवर प्रसन्न होकर हिमवान् के पास गए।

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में छेकानुप्रास स्पष्ट है।

गिरिगेह गे अति नेह आदर पूजि पहुनाई करी।
घरबात घरनि समेत कन्या आनि सब आगे धरी॥
सुख पाइ बात चलाइ सुदिनु सोधाइ गिरिहि सिखाइ कै।
ऋषि साथ प्रातहि चले प्रमुदित ललित लगन लिखाई कै॥८२

शब्दार्थ—गिरिगेह—हिमाचल के घर। गे—गए। पहुनाई—आतिथ्य-सत्कार। घरबात—घर की सामग्री, घर की सारी स्थिति। घरनि—गृहिणी, पत्नी। आनि—लाकर। सोधाइ—शोधकर, खोजकर, स्थिर कराकर, निश्चत करके।

अर्थ—सप्तर्षि हिमाचल के घर गए। उसने बड़े स्नेह तथा आदर से उनका आतिथ्य-सत्कार किया। घर की सामग्री, स्त्री तथा कन्या सबको लाकर उनके सम्मुख रख दिया। ऋषियों ने प्रसन्न होकर विवाह की बात प्रारंभ की। (तय हो जाने पर) शुभ मुहूर्त निश्चित कराके, हिमाचल को समझाकर, विवाह का लग्नपत्र लिखा दिया और प्रसन्न चित्त से साथ साथ वहाँ से प्रातःकाल चल दिए।

टिप्पणी—(१) इस छंद में 'ग', 'घर' तथा 'आइ' के वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास हैं।

(२) अंतिम पंक्ति में 'साथ' के स्थान में 'सात' पाठ अधिक उपयुक्त है; परंतु नागरीप्रचारिणी सभा के संस्करण में 'साथ' ही दिया गया है।

बिप्रबृंद सनमानि पूजि कुलगुरु सुर।

परेउ निसानहिँ घाउ, चाउ चहुँ दिसि पुर ॥८३॥

शब्दार्थ—निसानहिँ—नगाड़े पर। घाउ—चोट (अत्युक्ति से कथित)। चाउ—चाव, उछाह।

अर्थ—हिमाचल ने ब्राह्मणों को बुलाकर उनका सत्कार किया और फिर पुरोहित तथा देवताओं की पूजा करके (विवाह की सूचना देने के लिये) नगाड़ा बजवाया। चारों ओर लोगों में उत्साह छा गया।

टिप्पणी—चारों पदों में पृथक् पृथक् क्रियाओं का संकेत है।

गिरि, बन, सरित, सिंधु, सर सुनइ जो पायउ।

सब कहँ गिरिबर-नायक नेवति पठायउ ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिन पहाड़, जंगल, नदी, समुद्र और तालाब के नाम हिमालय ने सुन पाए, सभी को निमंत्रित किया।

टिप्पणी—इस छंद में तुल्ययोगिता अलंकार है। प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास तथा दूसरी में छेकानुप्रास है।

धरि धरि सुंदर बेष चले हरषित हिये।

कँचन चीर उपहार हार मनिगन लिये ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ—कंचन—सोना। चीर—वस्त्र, कपड़ा। उपहार—भेंट।

अर्थ—वे सब सुंदर सुंदर रूप बनाकर प्रसन्नता से सोना, (धन), वस्त्र, अन्य प्रकार की भेंट, माला और मणियाँ (भेंट में देने के लिये) लेकर हिमाचल के यहाँ आए।

टिप्पणी—(१) 'उपहार के लिये मणियों की माला' अर्थ भी हो सकता है।

(२) प्रथम पंक्ति में पुनरुक्तिवदाभास और दूसरी में भंगपद यमक अलंकार है।

कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन।
हरषित लगीं सुवासिनि मंगल गावन॥ ८६॥

शब्दार्थ—बितान—मंडप। सुवासिनि—गाँव की सौभाग्यवती स्त्रियाँ (गृहकन्याएँ)।

अर्थ—हिमाचल ने प्रसन्न मन से मंडप तैयार करने की आज्ञा दी। गाँव की सुहागिन स्त्रियाँ मंगल गाने लगीं।

टिप्पणी—दोनों पदों में छेकानुप्रास स्पष्ट है।

तोरन कलस चँवर धुज बिविध बनाइन्हि।
हाट पटोरन्हि छाय, सफल तरु लाइन्हि॥ ८७॥

शब्दार्थ—तोरन—बंदनवार। धुज—पताका, झंडी। हाट—बाजार। पटोरन्हि—रेशमी वस्त्रों से। लाइन्हि—लगाए, लाए, रोपे।

अर्थ—नाना प्रकार के बंदनवार, कलश, चँवर और ध्वजाएँ बनाई गईं। बाजार को रेशमी वस्त्रों से छाया गया। फलयुक्त पेड़ ला लाकर लगाए गए।

टिप्पणी—'छाय' पूर्वकालिक क्रिया है। शेष क्रियाएँ सामान्यभूत में हैं।

गौरी नैहर केहि बिधि कहहुँ बखानिय।
जनु ऋतुराज मनोज-राज रजधानिय॥ ८८॥

शब्दार्थ—नैहर—मायका, पीहर, पितृगृह। ऋतुराज—वसंत। मनोज (मनः + ज)—मनसिज, कामदेव।

अर्थ—पार्वतीजी के मायके का वर्णन किस प्रकार करूँ ? (अर्थात् वह अत्यंत उत्कृष्ट है अतएव वर्णनातीत है) ऐसा विदित होता है जैसे वसंत तथा कामदेव की राजधानी हो।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। समास रूप में वर्णन करने की यह प्रणाली तुलसीदासजी में विशेष रूप से पाई जाती है।

जनु राजधानी मदन की बिरची चतुर बिधि और ही।
रचना बिचित्र बिलोकि लोचन बियक ठौरहि ठौर ही॥
यहि भाँति ब्याहु समाजु सजि गिरिराजु मगु जोवन लगे।
तुलसी लगन लै दीन्ह मुनिन्ह महेस आनँद-रँग-मगे।८८।

शब्दार्थ—मदन—मनोज, कामदेव। बिथक—थक जाते हैं, रुक जाते हैं। ठौर—स्थान। मगु—बाट, रास्ता। जोवन—देखना, प्रतीक्षा करना। मगे—मग्न हो गए।

अर्थ—यह प्रकट होता है कि चतुर ब्रह्मा ने कामदेव की यह दूसरी ही राजधानी बना दी है (अर्थात् यह कामदेव की राजधानी से भी अधिक सुंदर बनाई गई है।) इस अलौकिक चित्रकारी और बनाव को देखकर नेत्र स्थान स्थान पर थकित से होकर रुक जाते हैं। इस प्रकार ब्याह का सारा उपक्रम करके हिमाचल (बारात की) बाट जोहने लगे। (इस स्थान के आगे गोसाईंजी, कन्यापक्ष का वर्णन और अधिक न करके, वरपक्ष के उत्साह का वर्णन करेंगे।) तुलसीदासजी कहते हैं कि मुनियों ने लग्नपत्र लाकर शिवजी को दिया। उसे पाकर शिवजी आनंद के रंग में रँग गए।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में प्रथम प्रतीप अलंकार है।

बेगि बुलाइ बिरंचि बँचाइ लगन तब।

कहेन्हि "बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब"॥१००॥

शब्दार्थ—बेगि—शीघ्र, तुरंत। बिरंचि—ब्रह्मा। अमर—देवता।

अर्थ—शिवजी ने ब्रह्माजी को तुरंत बुलाकर लगन-पत्रिका बँचवाई। फिर उनसे कहा कि "सब देवताओं को बुलाकर (बारात लेकर) विवाह करने के लिये चलिए"।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

बिधि पठये जहँ-तहँ सब सिवगन धावन।

सुनि हरषहिं सुर कहहिं निसान बजावन॥१०१॥

शब्दार्थ—धावन—दूत की भाँति संदेश-वाहक, हरकारा।

अर्थ—ब्रह्माजी ने शिव के गणों को दूत बनाकर (सभी दिशाओं) में जहाँ-तहाँ भेजा। देवताओं ने (विवाह-संदेश) सुन-सुनकर प्रसन्नता प्रकट की। वे (कूच का) डंका बजाने के लिये कहने लगे।

टिप्पणी—ऊपर के दोनों छंदों से प्रतीत होता है कि बारात ले चलने का काम ब्रह्माजी को सौंपा गया था।

रचहिं बिमान बनाइ सगुन पावहिं भले।

निज निज साजु समाजु साजि सुरगन चले॥ १०२॥

शब्दार्थ—बिमान—सवारी।

अर्थ—देवताओं ने अपनी अपनी सवारियाँ प्रस्तुत कीं। उन्हें अच्छे शकुन हुए। इस प्रकार सभी देवता अपना मंडल साज साजकर (बारात लेकर) चले

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

मुदित सकल सिवदूत भूतगन गाजहिं ।
सूकर, महिष, स्वान, खर बाहन साजहिं ॥१०३॥

शब्दार्थ—सूकर—सुअर । महिष—भैंसा । स्वान—कुत्ता । खर—गधा । बाहन—सवारी ।

अर्थ—शिवजी के सारे दूत प्रसन्न होते हैं (क्योंकि उनके निमंत्रण के फल-स्वरूप पूरी बारात हो गई है) । भूत लोग गरजते हैं और सुअर, भैंसा, कुत्ता और गधा आदि की सवारी सजाते हैं ।

टिप्पणी—इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि शिवजी के गण जो भूत हैं ।

नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिँ ।
अज, उलूक, वृक नाद गीत गन गावहिँ ॥१०४॥

शब्दार्थ—तरंग—हृदय के उत्तेजित भाव । अज—बकरा । वृक—भेड़िया ।

अर्थ—शिवजी के गण अनेक प्रकार से नाच नाचकर अपने मन की मौज प्रकट करते हैं । वे बकरे, उल्लू और भेड़िए की बोलियों में गीत गाते हैं ।

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में यह वर्णन और भी अत्युक्ति से किया गया है ।

सिव अनुसासन सुनि सब आये ।........................ ॥

× × × ×

नाना बाहन नाना बेखा । बिहँसे सिव समाज निज देखा ॥
कोउ मुखहीन बिपुलमुख काहू । बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू ॥

× × × ×

तनखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन वेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत-पिसाच-जोगि-जमात बरनत नहिं बनै॥

× × × ×

नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥

(२) 'रंग' और 'तरंग' में सभंगपद यमक तथा संपूर्ण छंद में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

रमानाथ, सुरनाथ, साथ सब सुरगन।
आये जहँ बिधि संभु देखि हरषे मन॥१०५॥

शब्दार्थ—रमानाथ—विष्णु। सुरनाथ—इंद्र। बिधि—ब्रह्मा।

अर्थ—विष्णु और इंद्र सब देवताओं को साथ लिए हुए आए। उन्हें देखकर ब्रह्मा और शिवजी प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'स' का वृत्त्यनुप्रास है।

मिले हरिहि हर हरषि सुभाखि सुरेसहिं।
सुर निहारि सनमानेउ, मोदु महेसहिं॥१०६॥

शब्दार्थ—हरिहि—हरि को। हर—महादेव। सुभाखि—अच्छे शब्द कहकर, कुशल पूछकर। सुरेस—इंद्र। मोदु—आनंद, हर्ष।

अर्थ—शिवजी विष्णु से प्रसन्नतापूर्वक मिले। इंद्र से उन्होंने कुशल आदि पूछी और देवताओं को केवल देखकर सम्मानित किया। शिवजी को बड़ी प्रसन्नता है।

टिप्पणी—(१) यह भी अर्थ किया जा सकता है कि 'देवताओं ने शिवजी का सम्मान किया अर्थात् (उन्हें) प्रणाम आदि किया'।

(२) ऊपर के पदों में क्रियाओं का प्रयोग कर्म के प्रति सम्मान के न्यूनाधिक्य पर आश्रित है।

बहु बिधि बाहन जान बिमान बिराजहिं।
चली बरात निसानु गहागह बाजहिं ॥१०७॥

शब्दार्थ—बाहन—वह सवारी जो अपने ऊपर पुरुषों को ले जाती है; जैसे, हाथी, घोड़ा आदि। जान (यान)—वह सवारी जिसे मनुष्य उठाते हैं; जैसे, पालकी। बिमान—वह सवारी जो आकाश में चलती है; जैसे, वायुयान।

अर्थ—उस बारात में अनेक प्रकार के वाहन, यान तथा विमान हैं। शिवजी की ऐसी बारात रवाना हो गई। बड़े शब्द के साथ नक्कारे बजे।

टिप्पणी—प्रथम चरण में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

बाजहिं निसान, सुगान नभ, चढ़ि बसह बिधुभूषन चले।
बरषहिं सुमन जय जय करहिं सुर, सगुन सुभ मंगल भले॥
तुलसी बराती भूत प्रेत पिसाच पसुपति सँग लसे।
गजछाल,ब्याल,कपालमाल, बिलोकि बर सुर हरि हँसे १०८

शब्दार्थ—सुगान—सुंदर गीत। नभ—आकाश। पसुपति—शिवजी। ब्याल—सर्प।

अर्थ—नगाड़े बज रहे हैं। आकाश में सुंदर गाने हो रहे हैं। बैल पर चढ़कर चंद्रभूषण शिवजी चले। देवता उनकी जय जय करते हैं और पुष्प-वृष्टि हो रही है। शुभ मंगल के सभी शकुन मिल रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि भूत-प्रेतों तथा पिशाचों की बारात और शिवजी को हाथी का चर्म, सर्पों के अलंकार तथा नर-मुंडों की माला पहिने देखकर श्रेष्ठ देवता तथा विष्णुजी हँस पड़े।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में 'वर' शब्द, दूलह के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है और तब इस पंक्ति का अर्थ होगा—दूलह का ऐसा रूप और ऐसी बारात देखकर देवता और विष्णुजी हँस पड़े।

बिबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आयउ।

आपन आपन साज सबहिं बिलगायउ ॥१०९॥

शब्दार्थ—बिबुध—देवता। बोलि—बुलाकर। बिलगायउ—अलग कर लिया।

अर्थ—विष्णु ने देवताओं को बुलाकर कहा कि हम लोग नगर के निकट आ गए हैं। सब लोग अपना अपना दल अलग कर लो।

टिप्पणी—'मानस' में यही वर्णन इस प्रकार है—

बिष्णु कहा अस बिहँसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज ॥
बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर-पुर जाई ॥
बिष्णु-वचन सुनि सुर मुसुकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने ॥

प्रमथनाथ के साथ प्रमथगन राजहिं।

बिबिध भाँति मुख, बाहन, बेष बिराजहिं ॥११०॥

शब्दार्थ—प्रमथनाथ (प्रमथ = शिवजी के गणविशेष + नाथ = स्वामी)—शिवजी। राजहिं—शोभित हैं।

अर्थ—शिवजी के साथ गणों का दल शोभित है। उनके मुख, वाहन तथा वेष भिन्न भिन्न प्रकार के हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में लाटानुप्रास तथा दूसरी में वृत्त्यनुप्रास और श्रुत्यनुप्रास हैं।

कमठ खपर मढ़ि खाल निसान बजावहिं।

नरकपाल जल भरि भरि पियहिं पियावहिं ॥१११॥

शब्दार्थ—कमठ—कछुआ।

अर्थ—शिवजी के गण कछुए की पीठ पर मढ़ी हुई खाल का नगाड़ा बजाते हैं और मनुष्य की खोपड़ी में जल भरकर स्वयं पीते तथा दूसरों को पिलाते हैं।

टिप्पणी—'भरि भरि' में पुनरुक्तिवदाभास तथा 'पियहिं पियावहिं' में लाटानुप्रास अलंकार है।

"बर अनुहरति बरात बनी" हरि हँसि कहा।
सुनि हिय हँसत महेस, केलि कौतुक महा॥११२॥

शब्दार्थ—अनुहरति—योग्य। केलि—क्रीड़ा। कौतुक—खेल, तमाशा।

अर्थ—विष्णु ने हँसकर कहा—"वर के योग्य ही बारात सजी है।" यह सुनकर शिवजी मन में हँसते हैं। बारात में बड़े कौतूहल और खेल हो रहे हैं।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास तथा इस छंद में पर्यायोक्ति अलंकार है।

बड़ बिनोद मग मोद न कछु कहि आवत।
जाइ नगर नियरानि बरात बजावत॥११३॥

शब्दार्थ—बिनोद—हास्य, मनोरंजन। मग—रास्ता, मार्ग। मोद—प्रसन्नता। नियरानि—पास पहुँच गई।

अर्थ—मार्ग में बड़ा हास-विलास होता रहा जिसका वर्णन कुछ नहीं करते बनता। बाजा बजाती हुई बारात नगर के पास आ गई।

टिप्पणी—(१) इस छंद में 'न कछु कहि आवत' कहकर तुलसीदासजी ने बारात-वर्णन समाप्त कर दिया है।

(२) दोनों पंक्तियों में छेकानुप्रास अलंकार है।

पुर खरभर, उर हरषेउ अचलु-अखंडल।

परब उदधि उमगेउ जनु लखि बिधुमंडल ॥११४॥

शब्दार्थ—पुर—नगर में। खरभर—खलबली। अचलु (अ—नहीं+चल=जो चल सके)—पर्वत (हिमालय)। अखंडलु—संपूर्ण। परब—पूर्णिमा। उदधि—समुद्र। बिधुमंडल—चंद्र-मंडल।

अर्थ—(बारात के आगमन से) नगर में खलबली मच गई। सारा हिमालय (का साम्राज्य) हृदय की प्रसन्नता से ऐसे उफन पड़ा मानो पूर्ण चंद्रमा को देखकर समुद्र उमड़ रहा हो।

टिप्पणी—इस छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

प्रमुदित गे अगवान बिलोकि बरातहि।

भभरे, बनइ न रहत, न बनइ परातहि ॥११५॥

शब्दार्थ—अगवान—अगवानी लेने, स्वागत करने। भभरे—डर गए। परातहि—भागते ही।

अर्थ—लोग प्रसन्नतापूर्वक अगवानी कराने गए; परंतु बारातियों को देखकर सब हृदय में बेतरह डर गए। उनसे न तो ठहरते ही बनता है और न भागते ही।

टिप्पणी—(१) भागते हैं तो डर के कारण इतनी शक्ति नहीं है कि भागकर शीघ्र चले जायँ और मारे डर के खड़ा रहने का साहस भी नहीं है।

(२) न भागने का यह भी कारण हो सकता है कि बिना अगवानी किए लौट जाने में हिमालय अपना अपमान अनुभव करेगा और क्रुद्ध होगा।

चले भाजि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत।

बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत ॥११६॥

शब्दार्थ—भाजि चले—भागे। गज—हाथी। बाजि—घोड़ा। हेरत—ढूँढ़ते। भभरि—डरकर, दुबिधा में पड़कर।

अर्थ—हाथी-घोड़े भाग चले; लौटाने से भी नहीं लौटते। इस भगदड़ में लड़के डर के कारण भुला गए और अपने घर ढूँढ़ते फिरते हैं।

टिप्पणी—मिलाइए—

'बिडरि चले बाहन सब भागे।'

× × × ×

'बालक सब लै जीव पराने॥'

('मानस')

दीन्ह जाइ जनवास सुपास किये सब।

घर घर बालक बात कहन लागे तब॥११७॥

शब्दार्थ—जनवास—बारात के ठहरने का स्थान।

अर्थ—(हिमाचल ने) जाकर जनवास दिया और सब प्रकार की सुविधाएँ कर दीं। इसी समय बच्चे अपने अपने घर बारात की बातें करने लगे।

टिप्पणी—इस छंद में छेकानुप्रास तथा पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

"प्रेत बैताल बराती, भूत भयानक।

बरद चढ़ा बर बाउर, सबइ सुबानक॥११८॥

शब्दार्थ—बरद—नंदी, बैल। सुबानक—सुंदर।

अर्थ—(बच्चे कहते हैं—)डरावने भूत, प्रेत और बेताल बराती हैं और वर बावला है जो बैल पर चढ़ा है। बड़ी सुंदर बारात है।

टिप्पणी—इस छंद में बारात को भयानक न बताकर सुंदर कहकर व्यंग से उसको तिरस्कृत किया गया है। बारात की

हँसी उड़ाई गई है। इस छंद में तिरस्कृत वाच्यध्वनि है। 'ब', 'भ', 'व' के छेकानुप्रास हैं।

कुसल करइ करतार कहहिं हम साँचिय।
देखब कोटि बियाह जियत जो बाँचिय॥११९॥

शब्दार्थ—कुसल—खैरियत। करतार—ब्रह्मा।

अर्थ—इस बारात से ब्रह्मा बचावें। हम सच कहते हैं कि हममें से कोई जीता बचेगा तो करोड़ों बारातें देखेगा।

टिप्पणी—मानस में—

'जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही॥'

समाचार सुनि सोचु भयउ मन मैनहिं।
नारद के उपदेस कवन घर गे नहिं?॥१२०॥

अर्थ—यह समाचार सुनकर पार्वती की माता मैना के मन में बड़ा सोच हुआ। (वे कहने लगीं कि) नारद के उपदेश से कौन घर बरबाद नहीं हुए!

टिप्पणी—(१) मानस में—

नारद कर मैं कहा बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा॥

× × × ×

नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ कि सुगेह॥

× × × ×

नारदसिष जे सुनहिं नरनारी। अवसि होहिं तजि भवन भिखारी॥

(२) उक्त छंद में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

घरघाल चालक कलहप्रिय कहियत परम परमारथी।
तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी॥
उर लाइ उमहिँ अनेक बिधि, जलपति जननि दुख मानई।
हिमवान कहेउ "इसान महिमा अगम, निगम न जानई" १२१

शब्दार्थ—घरघाल—घर नष्ट करनेवाले। चालक—चालाक। कलह-प्रिय—झगड़ा करानेवाले। परम—बड़े। परमारथी—ईश्वरत्व के इच्छुक, स्वार्थ से परे। बरेखी—वरिच्छा, विवाह-निश्चय का कृत्य। सारथी—साधक। जलपति—अंडबंड कहती हैं। निगम—पुराण। इसान (ईशान)—शिवजी। अगम—अगम्य, अपार; या वेद-पुरान।

अर्थ—(मैना कहती हैं—) लोग कहते हैं कि नारद बड़े परमार्थी (निःस्वार्थ प्रेमी) हैं किंतु वे बड़े चालाक, झगड़ा करानेवाले और बसे घर उजाड़नेवाले हैं। वैसा ही वरिक्षा कराकर अपने स्वार्थ के इच्छुक सप्तर्षियों ने भी किया। (अर्थात् वे भी मेरे हित को न देख सके।) माता मैना इस प्रकार दुःख से अनेक प्रकार की बातें कहकर पार्वती को हृदय से लगाती हैं। (तब) हिमाचल मैना को समझाते हुए कहते हैं कि महादेवजी की महिमा अपार है, उसे शास्त्र-पुराण भी नहीं जानते।

टिप्पणी—इस छंद के प्रथम चरण में जो नारद जी को बुरा कहा गया है उसी को मानस में और भी सुंदरता से व्यक्त किया गया है—

'साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव की पीरा॥'

इस स्थल पर गोसाईंजी ने मैना के विलाप को थोड़े शब्दों में "जलपति जननि दुख मानई" में ही प्रकट कर दिया है। 'जलपति' का पूरा भाव 'मानस' में इस प्रकार है—

'कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहिं तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाह न हौं करौं॥'

इस ग्रंथ में यहाँ पर गोसाईंजी ने मैना को हिमवान् द्वारा ढाढ़स बँधवाया है। यह द्रष्टव्य है कि जहाँ गोसाईंजी ने पहले के छंदों में यह प्रकट किया है कि माता के संतुष्ट होने पर विवाह आदि कार्यों की सफलता होती है, और इसी लिये अरुंधती से यह कार्य कराया गया है, वहीं हिमाचल की ही संतुष्टि सफल है और 'नारी अस्थिर बुद्धि' की लोकोक्ति अपना कार्य करती है।

मानस में "नारि कुसल इहि काजु, काजु बनि आइहि" नहीं कहा गया। वहाँ यह दिखाया गया है कि ऐसे अवसरों पर कन्याओं की सुशीलता वांछित है। पार्वतीजी ने अपनी माँ को साधारणतया समझा लिया। फिर नारद आदि मुनि भी जब मैना के पास आए तब उन्हें मैना ने एक भी कुशब्द नहीं कहा।

छंद की अंतिम पंक्ति में हिमवान् द्वारा जो "इसान महिमा अगम" बताया गया है इसी के प्रमाण-स्वरूप आगामी छंदों में तुलसीदासजी ने बारातियों का बहुत सुंदर चित्र अंकित किया है।

सुनि मैना भइ सुमन, सखी देखन चली।
जहँ तहँ चरचा चलइ हाट चौहट गली ॥१२२॥

शब्दार्थ—सुमन—स्थिर चित्त। हाट—बाजार। चौहट—चौक, चौराहा।

अर्थ—यह सुनकर मैना सुचित हुई। एक सखी (वर आदि बारातियों को) देखने गई। जहाँ-तहाँ बाजारों, चौराहों और गलियों तक में यही चर्चा चल रही है।

टिप्पणी—अंतिम पद में छेकानुप्रास अलंकार है।

श्रीपति, सुरपति, बिबुध बात सब सुनि सुनि।
हँसहिं कमलकर जोरि, मोरि मुख पुनि-पुनि ॥१२३

शब्दार्थ—श्रीपति—रमापति, विष्णु। सुरपति—शचीपति, इंद्र बिबुध—देवता। कमलकर—कमल के समान कोमल कर। मोरि—मोड़कर

नील निचोल छाल भइ, फनि मनिभूषन।

रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन॥ १२५॥

शब्दार्थ—निचोल—वस्त्र, पट। छाल—चर्म। पूषन—सूर्य। रोम—बाल, केश।

अर्थ—शिवजी का (गज-)चर्म अब नील वस्त्र हो गया (नेत्र-सुखद दुशाला बन गया)। देह के सर्प मणियों के आभूषण बन गए। (उनके शरीर की कांति बहुत बढ़ गई।) उनके प्रत्येक रोम पर एक एक सौंदर्य-सूर्य (की कांति) का उदय हो गया।

टिप्पणी—इस छंद में अत्युक्ति अलंकार है। प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास तथा दूसरी में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

गन भये मंगलबेष मदन-मनमोहन।

सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन॥ १२६॥

शब्दार्थ—मदन-मनमोहन—मन को मोहित करनेवाले सुंदर कामदेव; या इतने सुंदर कि अपने रूप से संतुष्ट कामदेव का भी मन मोहित करनेवाले। जोहन—देखने के लिये।

अर्थ—शिवजी के गण मंगल-वेषधारी हो गए, वे कामदेव के समान मनको मोहनेवाले बन गए। यह सुनकर स्त्री-पुरुष हृदय से हर्षित होकर देखने के लिये (अपने घरों से) चले।

टिप्पणी—(१) इस छंद में 'मदन-मनमोहन' गणों का इसके प्रथम १२४वें छंद के 'सतकोटि मनोज मनोहर' शिव के साथ सौंदर्य-सादृश्य दिखाया गया है।

(२) प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

संभु सरद राकेस, नखतगन सुरगन।

जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुरजन॥१२७॥

शब्दार्थ—राकेस (राका = पूर्णिमा + ईश = स्वामी)—चंद्रमा । सरद—शरद् ऋतु; क्वार और कार्तिक के महीने । इन दिनों रात्रि में चाँदनी बहुत उज्ज्वल और चित्त प्रसन्न करनेवाली होती है । चंद्रमंडल अतीव कांतिमान् हो जाता है ।

अर्थ—शिवजी शरत्-चंद्र हैं, सब देवता लोग उसके चारों ओर स्थित नक्षत्र (तारे) हैं तथा चारों ओर बैठे गाँव के सभी लोग चकोर हैं ।

टिप्पणी—(१) इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

(२) इस छंद में शिवजी के चंद्र तथा अन्य देवताओं के तारा होने से यह अर्थ भी निकलता है कि अपने को सुंदर समझनेवाले इंद्र आदि का मान दलित हो गया । दूसरा यह कि शिवजी को देखकर पुरजनों को वैसे ही सुख मिलता है जैसे चकोर को चंद्रमा के देखने में ।

गिरिबर पठये बोलि लगन बेरा भई ।
मंगल अरघ पाँवड़े देत चले लई ॥ १२८ ॥

शब्दार्थ—बेरा—वेला, समय । अरघ—अर्घ्य, अतिथि को जल देना, पूजा में जल देना । पाँवड़े—पापोश, पायंदाज, पैर पोंछने का टाट या अन्य वस्त्र ।

अर्थ—हिमवान् ने लगन का समय देखकर विवाह के लिये बुला भेजा और शिवजी को मंगल जल आदि देकर पैर पोंछने आदि के लिये वस्त्र देते हुए ले चले ।

टिप्पणी—गोसाईंजी ने रामचरितमानस में इस प्रकार का उल्लेख नहीं किया । वरपक्ष की ओर से सप्तर्षियों ने जाकर स्वयं हिमाचल को प्रेरित किया; क्योंकि मैना के विलाप के कारण देर हो जाना संभव था । किंतु पार्वती-मंगल में विलाप का रूप छोटा और

शीघ्र समाप्त हो जानेवाला है। अतः उचित रीति के अनुसार कन्यापक्ष की ओर से ही बुलवा दिया गया।

अर्घ्य, जल आदि की रस्मों को परिपुष्ट करने के लिये गोसाईं-जी ने उनका वर्णन करने के साथ ही यहाँ कथानक को सच्ची विधि से घटित किया है।

होहिं सुमंगल सगुन, सुमन बरषहिं सुर।
गहगहे गान निसान मोद मंगल पुर ॥१२९॥

शब्दार्थ—सुमन—फूल। गहगहे—जोरों के साथ।

अर्थ—मांगलिक शकुन हो रहे हैं। देवता लोग पुष्प-वृष्टि करते हैं। गीतों और बाजों का तुमुल शब्द होता है। सारे नगर में आनंद और हर्ष है।

टिप्पणी—इस छंद में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

पहिलिहि पँवरि सुसामध भा सुखदायक।
इत बिधि उत हिमवान सरिस सब लायक॥१३०॥

शब्दार्थ—पँवरि—दालान। सुसामध—समधियों का मिलाप, वर और कन्या के पिताओं का सम्मिलन (पिता की अनुपस्थिति में कोई ज्येष्ठ पुरुष भी हो सकता है)। इत—इधर, शिवजी की ओर। उत—उधर, उमा की ओर। सरिस—समान।

अर्थ—पहले कमरे में ही सुंदर समधौरा हो गया। इधर से ब्रह्माजी और उधर से हिमवान् मिले। दोनों ही एक जोड़ के (अर्थात् समान) और सब प्रकार से समर्थ हैं।

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में छेकानुप्रास अलंकार है।

मनि चामीकर चारु थार सजि आरति।
रति सिहाहिं लखि रूप, गान सुनि भारति॥१३१॥

शब्दार्थ—चामीकर—सोना। सिहाहिं—अपने को छोटा समझ, ईर्ष्या करती हैं। भारती—सरस्वती।

अर्थ—मणि और सोने के थाल में आरती सजाकर स्त्रियाँ शिवजी का परिछन करने चलीं। उनका रूप देखकर रति और गाना सुनकर सरस्वती ईर्ष्या करती हैं।

टिप्पणी—इस छंद में अत्युक्ति अलंकार है।

भरी भाग अनुराग पुलकतनु मुदमन।
मदनमत्त गजगवनि चलीं बर परिछन॥१३२॥

शब्दार्थ—भरी भाग—भाग्यवती। मुदमन—प्रसन्नचित्त। मदनमत्त—कामोन्मत्त। गजगवनि—हाथी की भाँति झूम झूमकर मंद मंद चलनेवाली।

अर्थ—कामोन्मत्त स्त्रियाँ, हाथी की सी मस्तानी और मंद गति से चलती हुई, वर के परिछन के लिये चलीं। उन भाग्यवती स्त्रियों के शरीर प्रेम से पुलकित थे। उनके हृदय में हर्ष भर रहा था।

टिप्पणी—'परिछन' विवाह की एक रस्म है। बारात जब कन्या के द्वार पर आती है तब कन्यापक्ष की स्त्रियाँ कन्या की माँ को—जो सूप में अक्षत, रोली, दही, दीप आदि मांगलिक वस्तुएँ लिए रहती है—आगे करके वर के पास जाती हैं और उसके माथे पर दही तथा अक्षत का टीका लगाकर उसकी आरती करती हैं। यह एक प्रकार का स्वागत-विधान है।

बर बिलोकि बिधुगौर सु अंग उजागर।
करति आरती सासु मगन सुखसागर॥१३३॥

शब्दार्थ—बिधुगौर—चंद्रमा के सदृश गोरे अंग तथा दीप्तिमान् मुखवाले। मगन—मग्न, डूबी हुई।

अर्थ—शिवजी की सास मैना शिवजी को चंद्रमा के समान गोरा, सुंदर अंगोंवाला तथा दीप्तिमान् देखकर सुख के समुद्र में मग्न हो गईं (अर्थात् बहुत सुखी हुईं)।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

सुखसिंधु मगन उतारि आरति करि निछावरि निरखि कै।
मगु अरघ बसन प्रसून भरि लेइ चली मंडप हरषि कै॥
हिमवान दीन्हेउ उचित आसन सकल सुर सनमानि कै।
तेहि समय साज समाज सब राखे सुमंडपु आनि कै॥१३४॥

शब्दार्थ—बसन—वस्त्र। प्रसून—पुष्प, फूल। आनि कै—लाकर।

अर्थ—सुख के समुद्र में निमग्न मैना शिवजी की आरती उतारकर, न्यौछावर आदि करके और (भली भाँति) देखकर, मार्ग में अर्घ्य देकर तथा वस्त्र और फूल बिछाकर उस पर से उन्हें प्रसन्नता के साथ मंडप की ओर लाईं। हिमाचल ने बड़े आदर तथा विनय के साथ सभी देवताओं को उचित (यथास्थान) आसन दिए। इसी समय विवाह का सारा सामान लाकर मंडप के नीचे रखा गया।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में 'स' का वृत्त्यनुप्रास है।

अरघ देइ मनिआसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क, अमी अँचवायउ॥१३५॥

शब्दार्थ—मनिआसन—मणियों से जड़ा हुआ आसन। मधुपर्क—दही, शहद, घी, जल और शक्कर को मिलाकर बनाया हुआ पदार्थ भोजन के लिये देना। षोडश उपचारों में से छठा उपचार। अमी—अमृत, दूध, जल, चूना (व्यंग्यार्थ से; क्योंकि सुधा = चूना)। अँचवायउ—आचमन कराया। कुल्ला कराया।

अर्थ—मैना ने अर्घ्य देकर मणिजटित आसन पर शिवजी को बिठाकर मधुपर्क कराया और जल से आचमन कराया।

टिप्पणी—भिन्न भिन्न लेखकों ने 'मनि-आसन' को 'मुनि-आसन' लिखा है। 'मुनि-आसन' होने पर यह अर्थ होगा कि मुनियों ने सब कृत्य कराया। किंतु यह लोक-विरुद्ध है; फिर कथा-दृष्टि से भी वैसा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

'अमी' के भिन्न भिन्न अर्थ पीछे दिए गए हैं। इस स्थान पर 'अमी' का अर्थ 'जल' ही है; किंतु अत्युक्ति के लिये अथवा औदात्त्य के लिये दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है।

'मानस' में बारात भर की जेवनार का वर्णन है। उसके उपरांत ही विवाह-कार्य का प्रारंभ किया गया है। यह रवाज अयोध्या के समीप के लोगों में है। बाँदा, प्रयाग, कानपुर आदि स्थानों में केवल मिर्चवान ले जाने की प्रथा है, बारात को घर में लाकर भोजन कराने की नहीं।

सपत ऋषिन्ह बिधि कहेउ, बिलंब न लाइय।
लगन बेर भइ बेगि बिधान बनाइय ॥ १३६ ॥

अर्थ—ब्रह्माजी ने सप्तर्षियों से कहा—"देर न कीजिए। लग्न का समय हुआ। शीघ्र ही विवाह-कार्य का आयोजन कीजिए।"

टिप्पणी—इस छंद में लग्न के समय के पालन की इतनी दृढ़ता दिखाई गई है, इसका तात्पर्य केवल यह प्रकट करना है कि यह प्रणाली देवताओं के समय से चली आ रही है, अतः अनुकरणीय है।

यह द्रष्टव्य है कि वरपक्ष के पंडित आकर कन्यापक्ष को शीघ्र कार्य करने को प्रेरित करते हैं। प्रायः कन्यापक्ष के लोग इतने संलग्न रहते हैं कि उन्हें मुहूर्त आदि का ध्यान नहीं रहता।

'मानस' में मुनियों के प्रेरित करने पर हिमाचल द्वारा देवों को आमंत्रित करना कहा गया है; किंतु इस ग्रंथ में बाराती पहले से ही बुला लिए गए हैं।

थापि अनल हरबरहि बसन पहिरायउ।
"आनहु दुलहिनि बेगि समउ अब आयउ" ॥ १३७ ॥

शब्दार्थ—थापि—स्थापित करके। अनल—अग्नि। हरबरहि—शीघ्र ही। आनहु—लाओ।

अर्थ—सप्तर्षियों ने तुरंत अग्नि की स्थापना करके वस्त्र पहनाए और कहा कि 'दुलहिन को शीघ्र लाओ; अब समय आ गया है।'

टिप्पणी—'हरबर' शब्द ठेठ बैसवाड़ी बोली का है।

सखी सुवासिनि संग गौरि सुठि सोहति।
प्रगट रूपमय मूरति जनु जग मोहति ॥ १३८ ॥

शब्दार्थ—प्रगट रूपमय......मोहति—मानो रूप स्वयं ही मूर्तिमान् होकर संसार को मोहता हो।

अर्थ—सखी तथा सौभाग्यवती स्त्रियों के मध्य में पार्वतीजी अत्यंत शोभित हैं। वे इस प्रकार संसार को मोहती हैं मानों रूप स्वयं उनके रूप में मूर्तिमान् हो।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

भूषन बसन समय सम सोभा सो भली।
सुखमा बेलि नवल जनु रूपफलनि फली ॥ १३९ ॥

शब्दार्थ—समय सम—समयानुकूल। सुखमा—सुंदरता। नवल—नवीन। बेलि—लता।

अर्थ—समय के अनुकूल आभूषणों तथा वस्त्रों की शोभा इतनी अधिक है माने। सुषमा की नवीन लता ही रूप के फलों से फली हो (अर्थात् अंग अंग में रूप का अनुपम सौंदर्य है) ।

टिप्पणी—(१) तुलसीदासजी ने उक्त दोनों छंदों में उमा के स्वरूप का वर्णन अत्युक्ति से किया है। वे इतना कहकर संतुष्ट न रह सके कि उमा स्वयं रूप की ही सुंदर मूर्ति हैं। उन्होंने उक्त छंद में यह प्रकट किया कि उमा के अंग अंग से रूप बिखर रहा है। वे लता हैं और रूप उसके फल।

(२) इस छंद में भी वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। 'स' का अनुप्रास द्रष्टव्य है।

कहहु काहि पटतरिय गौरि गुनरूपहि।
सिंधु कहिय केहि भाँति सरिस सर कूपहि ॥१४०॥

शब्दार्थ—पटतरिय—समता करें; उपमा दें। सरिस—समान।

अर्थ—पार्वतीजी के रूप और गुणों की समानता किससे दी जाय? (अर्थात् कोई उपमा देने योग्य नहीं।) समुद्र को तालाब अथवा कुएँ के समान किस भाँति कहें? (अर्थात् जितने रूपवान् उपमान हैं वे सभी उमा से छोटे हैं। वे तो माता-स्वरूपा हैं जिनसे सारे संसार की उत्पत्ति हुई है।)

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में यही वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया गया है—

'सुंदरता-मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी ॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कबि को है' ॥

(२) यह द्रष्टव्य है कि गोसाईंजी ने 'मानस' में सीता-वर्णन भी इसी प्रकार किया है—

'केहि पटतरिय बिदेहकुमारी ।'

(३) उक्त छंद में वक्रोक्ति अलंकार, सौंदर्य व्यंग्यध्वनि और 'क', 'ग' तथा 'स' का अनुप्रास है ।

आवत उमहिँ बिलोकि सीस सुर नावहिं ।
भये कृतारथ जनम जानि सुख पावहिं ॥१४१॥

शब्दार्थ—सीस नावहिं—प्रणाम करते हैं (प्रथम कारण यह कि वे शिवजी की पत्नी हैं, दूसरे सौंदर्य-सीमा हैं) । कृतारथ—सफल ।

अर्थ—पार्वतीजी को आते देखकर देवता लोग प्रणाम करते हैं । वे यह समझकर सुखी हैं कि उन्हें (पार्वतीजी को) देखकर उन्होंने अपना जन्म सफल कर लिया ।

टिप्पणी—'मानस' में देखिए—

'जगदंबिका जानि भवबामा । सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा' ॥

बिप्र बेद धुनि करहिं सुभासिष कहि कहि ।
गान निसान सुमन झरि अवसर लहि लहि ॥१४२॥

शब्दार्थ—सुभासिष—शुभाशीष, शुभ आशीर्वाद । झरि—डालकर, वृष्टि करके । लहि लहि—पाकर ।

अर्थ—शुभ आशीर्वचन कहते हुए ब्राह्मण लोग वेदध्वनि करते हैं । समयानुसार गीत गाए जाते हैं, बाजे बजते हैं और पुष्प-वृष्टि होती है ।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में—

'बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं । जय जय जय संकर सुर करहीं ॥
बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना । सुमनबृष्टि नभ भै बिधि नाना' ॥

(२) उक्त छंद में निदर्शना अलंकार है तथा 'कहि' 'कहि और 'लहि' 'लहि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है ।

बर दुलहिनिहि बिलोकि सकल मन रहसहिं।
साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं ॥१४३॥

शब्दार्थ—रहसहिं—प्रसन्न होते हैं। साखोच्चार—शाखा (वंश-परंपरा) का उच्चारण। (विवाह के समय पुरोहित लोग वर तथा कन्या के पूर्वजों के नाम लेते और उनकी संतति ठहराकर उनका संबंध जोड़ते हैं।)

अर्थ—वर तथा दुलहिन को देखकर सब मन में प्रसन्न होते हैं। जब शाखोच्चार का समय आया तब सब देवता और मुनि हँसने लगे। (हँसे इस कारण कि देखें, शिवजी अपने बाप-दादों के क्या नाम बताते हैं। शिवजी थे 'मातृपितृहीन' अतः उनका उपहास करना था)।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'स' का वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

लोक-बेद-बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान संकलप कीन्ह धरनिधर ॥१४४॥

शब्दार्थ—संकलप—हिंदू लोग हाथ में कुश, अक्षत, जल लेकर पुण्य काम करने का निश्चय करते हैं। यही संकल्प-क्रिया है।

अर्थ—हिमवान् ने लौकिक और वैदिक रीतियाँ समाप्त करके हाथ में जल और कुश लेकर कन्यादान का संकल्प किया (अर्थात् वर को कन्या दी)।

टिप्पणी—'मानस' में इस प्रकार उल्लेख है—

'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहिं समरपी जानि भवानी॥'

इस चौपाई के अंतर्गत कन्या देना भी आ गया है किंतु इस ग्रंथ के छंद में यह बात नहीं दिखाई गई।

पूजे कुलगुरु देव, कलसु सिल सुभ घरी।
लावा होम बिधान, बहुरि भाँवरि परी ॥१४५॥

शब्दार्थ—कुलगुरु—पुरोहित। देव—कुलदेव। सिल—मसाला आदि पीसने का पत्थर, शिला। लावा—भुने हुए धान (विवाह के समय कन्या का भाई वर की अंजलि में से कन्या के अंचल में खीलें छोड़ता है)। होमविधान—शास्त्रोक्त अग्निहोत्र। भाँवरि—दुलहिन को आगे करके मंडप, कलश और अग्नि आदि की परिक्रमा।

अर्थ—हिमवान् ने पुरोहित तथा सभी कुलदेवों का पूजन किया। फिर शुभ घड़ी में गणेश-कलश और सिल की पूजा की गई। इसके अनंतर लावा की रीति और अग्निहोत्र होने के पश्चात् भाँवरें हुईं।

टिप्पणी—इस छंद में तथा आगे के छंद में कुछ वैवाहिक प्रथाओं का वर्णन है।

बंदन बंदि, ग्रंथिबिधि करि, ध्रुव देखेउ।
भा विवाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ॥१४६॥

शब्दार्थ—बंदन बंदि (बंदन = सिंदूर + बंदि = भरकर)—पति द्वारा कन्या की माँग में सिंदूर भरने की क्रिया। ग्रंथिबिधि—गँठजोड़ा।

अर्थ—सिंदूर भरने के उपरांत गँठबंधन हुआ तथा (वर-वधू दोनों ने) ध्रुव तारा देखा। (इस प्रकार सब क्रियाएँ हो जाने पर) सबने कहा कि विवाह हो गया और हमने जन्मफल पा लिया।

टिप्पणी—ध्रुव देखने की रस्म वर तथा वधू का प्रेम, ध्रुव की भाँति, निश्चल और अविनाशी रहने के उद्देश्य से की जाती है।

पेखेउ जनमफल भा बियाह, उछाह उमगहिं दस दिसा।
नीसान गान प्रसून झरि तुलसी सुहावनि सो निसा॥
दाइज बसन मनि धेनु धनु हय गय सुसेवक सेवकी।
दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेव की१४७

शब्दार्थ—पेखेउ—देखा, पाया। दसदिसा—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार मुख्य दिशाएँ; वायव्य, नैऋत्य, ईशान और अग्नि ये चार कोण-दिशाएँ; और आकाश तथा पाताल की दो दिशाएँ। नीसान—(निशान) वाद्य, बाजा। निसा—रात्रि (विवाह-रात्रि)। दाइज—कन्यादान के उपलक्ष्य में दी हुई वस्तुएँ। धनु—धन; दौलत। हय—घोड़ा। गय—हाथी। पेव—प्रेम।

अर्थ—ब्याह हो गया, सबने अपने जन्मों का फल देख लिया। दसों दिशाओं में उत्साह छा गया। वह ब्याह की रात गाने, बजाने और पुष्प बरसाने से बड़ी सुहावनी हो गई थी। हिमवान ने (दायज में) वस्त्र, मणि, गाय, धन, हाथी, घोड़े, दास और दासी, जो पार्वती को प्रेम के कारण प्यारी थीं, दीं।

टिप्पणी—'मानस' में भी गोसाईंजी ने यही वर्णन किया है—

'दासी दास तुरँग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥
अन्न कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना'॥

'मानस' में, इस अवसर पर, इतना देते हुए भी हिमाचल का शिव के सामने नतमस्तक होना दिखाया गया है। यह एक प्रचलित रस्म और आवश्यक शिष्टता है।

बहुरि बराती मुदित चले जनवासहि।
दूलह दुलहिनि गे तब हास-अवासहि॥१४८॥

शब्दार्थ—हास-अवास—हास्यावास, कौतुक-गृह, कोहबर। (यहाँ घर के कुलदेव स्थापित किए जाते हैं। वर-कन्या के आने पर वहाँ साली सलहज आदि दूल्हे से हास्य-विनोद करती हैं।)

अर्थ—इसके उपरांत बाराती जनवासे चले गए। शिवजी तथा पार्वतीजी मनोरंजन के कमरे में पहुँचाए गए।

रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ ।
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख दीन्हेउ ॥ १४९ ॥

शब्दार्थ—कौतुक—खेल, विनाद । लहकौरि—दूल्हे और दुलहिन में दही और चीनी का भोजन करने-कराने की रीति ।

अर्थ—कोहबर का द्वार बंद करके मैना ने कौतुक किया । वहाँ शिव-पार्वती ने लहकौवर करके सबको बड़ा सुख दिया ।

टिप्पणी—आज-कल 'सास' दरवाजा नहीं बंद करती ।

जुआ खेलावत गारि देहिं गिरिनारिहि ।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि ॥ १५० ॥

शब्दार्थ—जुआ—कोहबर में वर-वधू को खेल खिलाया जाता है । पुरारि—महादेव ।

अर्थ—जुआ खेलाते समय स्त्रियाँ (कन्या की माँ) मैना को गालियाँ देती हैं । अपनी ओर देखकर शिवजी प्रसन्न होते हैं (क्योंकि वे तो 'मातृपितृहीन' हैं; फिर गालियाँ कौन किसे देगा ?) ।

टिप्पणी—ये गालियाँ व्याजस्तुतिमयी उक्तियाँ होती हैं, न कि फूहड़ गालियाँ । आजकल कहीं कहीं पर उनका रूप फूहड़ हो गया है ।

सखी सुवासिनि, सासु पाउ सुख सब बिधि ।
जनवासहि बर चलेउ सकल मंगलनिधि ॥ १५१ ॥

शब्दार्थ—मंगलनिधि—कल्याणमूर्ति, शंकर ।

अर्थ—सखियों, सौभाग्यवती स्त्रियों और सास मैना को सब प्रकार से सुख मिला। (तदुपरांत) कल्याणमूर्ति शिवजी जनवासे चले गए।

भइ जेवनार बहोरि बुलाइ सकल सुर।
बैठाये गिरिराज धरम-धरनी-धुर॥ १५२॥

शब्दार्थ—जेवनारि—एक साथ बैठकर भोजन करना। धरम-धरनी-धुर—धर्म तथा धरणी को धारण करनेवाला, साधु, हिमाचल।

अर्थ—साधु हिमाचल ने सभी देवताओं को बुलाकर जेवनार कराई; उन्हें पंगत में बिठाया।

टिप्पणी—हिमाचल के लिये 'धरम' तथा 'धरणी' का धुर कहने का तात्पर्य यह है कि उसने धर्मानुकूल परिस्थिति को ध्यान में रखकर यथायोग्य उत्तम स्थान दिया।

परुसन लगे सुवार, बिबुध जन जेवहिं।
देहिं गारि बर नारि मोद मन भेवहिं॥ १५३॥

शब्दार्थ—सुवार—रसोइया, भोजन बनानेवाला। जेवहिं—खाते हैं। भेवहिं—भिगोती हैं।

अर्थ—रसोइए परोसने लगे। देवता लोग भोजन करने लगे। सुंदर स्त्रियाँ गाली गाने लगीं और देवताओं के चित्त को प्रसन्नता से भिगोने लगीं (अर्थात् प्रसन्न करने लगीं)।

टिप्पणी—'मानस' में यही वर्णन निम्नलिखित रूप में है—

'बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लगे परोसन निपुन सुआरा॥
नारिबृंद सुर जेवँत जानी। लगीं देन गारी मृदुबानी॥'

किंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'मानस' में जेवनार ब्याह के प्रथम और इस ग्रंथ में उसके उपरांत हुई है।

करहिं सुमंगल गान सुघर सहनाइन्ह।
जेँइ चले हरि दुहिन सहित सुर भाइन्ह ॥१५४॥

शब्दार्थ—सहनाइन्ह—एक प्रकार का वाद्य जो मुँह से बजाया जाता है, नफीरी, शहनाई। दुहिन (दुहिण)—ब्रह्मा। जेँइ—खाकर।

अर्थ—सुंदर शहनाई में अच्छे मंगलगीत गाए जाने लगे (अर्थात् गीत भी गाए जाते हैं और साथ साथ शहनाई भी बजती है)। विष्णु, ब्रह्मा सब देव-भाइयों के साथ भोजन करके जनवासे चले।

टिप्पणी—इस छंद से जेवनार-वर्णन समाप्त हो जाता है, इसी कारण 'जेँइ चले' का अर्थ भोजनका प्रारंभ करना नहीं लिया गया।

भूधर भोर बिदा करि साज सजायउ।
चले देव सजि जान निसान बजायउ ॥१५५॥

शब्दार्थ—भूधर—धरणीधर, गिरि। जान—यान, सवारी। भोर—प्रातःकाल।

अर्थ—हिमाचल ने प्रातःकाल बिदा की तैयारी कर दी। देवता लोग अपनी सवारियों में सजकर, बाजा बजाकर, चल पड़े।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

सनमाने सुर सकल दीन्ह पहिरावनि।
कीन्हि बड़ाई बिनय सनेह-सुहावनि ॥१५६॥

शब्दार्थ—पहिरावनि—वस्त्र-विशेष जो बिदा के समय कन्यापक्ष की ओर से प्रत्येक बराती को पहनाया जाता है। विनय—नम्रता, प्रार्थना।

अर्थ—हिमाचल ने सब देवताओं को बड़े आदर के साथ पहिरावनी दी और विनय तथा स्नेह के साथ उनकी प्रशंसा की।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास और दूसरी में छेकानुप्रास अलंकार है।

गहि सिवपद कह सासु "बिनय मृदु मानबि।
गौरि सजीवनि मूरि मोरि जिय जानबि" ॥१५७॥

शब्दार्थ—मानबि—मानिएगा (बुंदेलखंडी)। सजीवनिमूरि—प्राण-दायिनी बूटी, प्राणप्यारी। जानबि—जानिएगा।

अर्थ—शिवजी के चरणों में लिपटकर मैना कहती है कि "मेरी नम्र विनय मानिएगा। पार्वती को मेरी सजीवनमूल जानिएगा"।

टिप्पणी—'मानस' में—

'पुनि गहे पदपाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो।'

× × × × ×

'नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बरु देहु।'

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहि।
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहि ॥१५८॥

अर्थ—मैना बार बार भेंटती और बार बार बिदा करती है; मानो नई ब्याई हुई गाय, हुँकर हुँकरकर, अपने बच्चे की ओर दौड़ती हो।

टिप्पणी—'हुँकरि' 'हुँकरि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

उमा मातु-मुख निरखि नयन जल मोचहिं।
'नारि जनमु जग जाय' सखी कहि सोचहिं ॥१५९॥

शब्दार्थ—नयन-जल—नेत्रों का नीर, आँसू। मोचहिं—गिराती हैं। जाय—व्यर्थ, किसी काम का नहीं।

अर्थ—पार्वतीजी माता मैना का मुख देखकर नेत्रों से आँसू गिराती हैं और सखियाँ यह कहकर शोक करती हैं कि संसार में स्त्री का जन्म व्यर्थ ही है।

टिप्पणी—'जनम जग जाय' में वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

भेंटि उमहिं गिरिराज सहित सुत परिजन।
बहु समुझाइ बुझाइ फिरे बिलखित मन॥१६०॥

शब्दार्थ—भेंटि—गले लगाकर। बिलखित—उदास, शोकभरे।

अर्थ—हिमवान् अपने पुत्र तथा कुटुंबियों सहित पार्वती से मिल-भेंटकर तथा उन्हें बहुत प्रकार से समझा-बुझाकर दुःखी मन से लौटे।

संकर गौरि समेत गये, कैलासहि।
नाइ नाइ सिर देव चले निज बासहि॥ १६१॥

शब्दार्थ—नाइ नाइ सिर—प्रणाम कर करके। बासहि—घर को।

अर्थ—पार्वतीजी सहित शिवजी कैलास गए और (वहाँ से) उन्हें प्रणाम कर करके देवता अपने अपने स्थान को चले गए।

टिप्पणी—'नाइ नाइ' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

उमा महेस बियाह-उछाह भुवन भरे।
सबके सकल मनोरथ बिधि पूरन करे॥ १६२॥

अर्थ—शिव-पार्वती के विवाह का उत्साह सारे संसार में भर गया। ब्रह्माजी ने सबकी सारी इच्छाओं को पूरा किया।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

प्रेमपाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कबि-मति मृगलोचनि॥ १६३॥

शब्दार्थ—पाट—रेशम। पट—वस्त्र। मृगलोचनि—हिरन के नेत्रों के से नेत्रोंवाली।

अर्थ—कवि की बुद्धि-रूपी मृगलोचना स्त्री ने शिव-पार्वती के गुण-रूपी मणियों को (उनके प्रति अपने) प्रेम-रूपी रेशमी वस्त्रों की डोरी में पिरोकर मंगल-हार प्रस्तुत किया है (अर्थात् तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने प्रेम-विवश होकर इस 'मंगल' में शिव-पार्वती के गुणों का वर्णन किया है। उनके गुण इतने उत्तम हैं कि जनदृष्टि इस 'मंगल' पर अवश्य आकर्षित होगी)।

टिप्पणी—इस छंद में रूपक अलंकार है।

मृगनयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा-सार सो॥
कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥१६४॥

शब्दार्थ—बिधुबदनि—चंद्रानना, चंद्रमा के सदृश मुखवाली स्त्री। तिलोक—त्रिलोक (स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल)। सार—तत्त्व, हीर, सर्वोत्तम अंश। प्रसाद—अनुग्रह।

अर्थ—सुंदर नेत्रोंवाली और सुंदर मुखवाली स्त्री ने यह मणियों का सुंदर हार रचा है। इसे ही तीनों लोकों की सारी शोभा का सार मानकर पुरुष और स्त्री अपने हृदय में धारण करें। जो लोग इसे मंगलकार्य तथा विवाह आदि उत्सव के अवसरों पर गावेंगे उनको, तुलसीदासजी कहते हैं कि, शिव-पार्वती की कृपा से प्रसन्नता और मनचाही वस्तुएँ मिलेंगी।

टिप्पणी—(१) प्रथम दो पंक्तियों में रूपक अलंकार है। 'मृग-नयनि-बिधुबदनी' में धर्मवाचक लुप्तोपमा है।

(२) 'प्रसाद प्रमोद मन प्रिय' का दूसरा अर्थ यह है कि उनके प्रसाद से मनचाहा आनंद पावेंगे।

(३) अंतिम दो पंक्तियों के सदृश कथन 'मानस' में भी है—

'यह उमा-संभु-बिबाहु जे नर-नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुखु पावहीं'॥

(४) इसी प्रकार उन्होंने जानकी-मंगल तथा बालकांड की समाप्ति में भी कहा है—

उपवीत ब्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिनु पावहीं॥

(जानकी-मंगल)

'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्बदा सुख पावहीं'॥

('मानस')

(५) जिस प्रकार गोसाईंजी ने अखिल विश्व में अपने इष्ट देव की सत्ता का प्रसार देखकर, उसे 'सियाराममय' जानकर, प्रणाम किया है, उसी प्रकार उन्होंने काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों में रचना करके काव्य को 'सियाराममय' अथवा 'शिवपार्वतीमय' (क्योंकि शिव भी राम का ही भजन करते हैं) बनाया है और जो कुछ 'सियाराममय' है वह अभिमत-फल-दातार है, ऐसा उनका विश्वास जान पड़ता है।

जानकी-मंगल

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेष सुकबि स्रुति संत सरल मति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—गनपति—गणेश। गिरापति (गिरा = सरस्वती + पति = स्वामी)—सरस्वती के स्वामी, ब्रह्मा। सारद (शारदा)—सरस्वती। स्रुति—वेद।

अर्थ—गुरुजी, गणेशजी, शंकरजी, पार्वतीजी, ब्रह्माजी तथा सरस्वतीजी, शेषनाग, सत्कवि, वेद और सहज सीधी बुद्धिवाले संतों को—

टिप्पणी—(१) गोसाईंजी ने अपने सभी ग्रंथों में प्रार्थना के अनंतर कथा का प्रारंभ किया है।

(२) इस छंद की पहली पंक्ति में 'गकार' का और दूसरी में 'सकार' का वृत्त्यनुप्रास बड़ा सुंदर प्रतीत होता है। इस छंद में पांचाली या कोमला वृत्ति है।

(३) 'सुकवि' शब्द से वाल्मीकि आदि कवियों की ओर संकेत है जिन्होंने परमेश्वर की प्रशंसा में सर्वप्रथम कविता की।

(४) 'सरल मति'—जिनकी कुटिलता नष्ट हो गई है, अर्थात् जो ईश-कथा की कविता को, बुरी होने पर भी, आदर देते हैं; जो किसी व्यक्ति के काव्य को महान् बताने के लिये दूसरों की निंदा नहीं कर सकते।

गोस्वामीजी ने 'रामलला नहछू' आदि ग्रंथों में, विशेषकर रामचरितमानस में, इन सभी देवताओं की प्रार्थना इसी प्रकार की है।

(५) अगले छंद के मिलाने पर इस छंद की समाप्ति होती है।

हाथ जोरि करि बिनय सबहि सिर नावौं।
सिय-रघुबीर-बिवाहु यथामति गावौं॥ २॥

शब्दार्थ—यथामति—बुद्धि के अनुसार।

गोसाईंजी ने अपनी बुद्धि को 'मानस' में इस प्रकार कहा है—

'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति-अनुरूप रामगुन गावौं॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥'

× × × × ×

'कबि न होउँ नहिं बचनप्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबित-बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहौं लिखि कागद कोरें॥'

अर्थ—हाथ जोड़कर, विनय के साथ, सबको प्रणाम करता हूँ और अपनी (अल्प) बुद्धि के अनुसार सीताजी तथा रघुवीर(राम)जी के विवाह का वर्णन करता हूँ।

टिप्पणी—पाठक 'पार्वती-मंगल' के 'कवि-मति मृगलोचनि' में व्यवहृत 'मति' शब्द की ओर ध्यान दें।

सुभ दिन रच्यौ स्वयंवर मंगलदायक।
सुनत स्रवन हिय बसहिं सीय-रघुनायक॥ ३॥

शब्दार्थ—सुभ (शुभ)—उत्तम। स्वयंवर—स्वेच्छानुसार पति-वरण का उत्सव। (प्राचीन समय में विवाह की एक प्रथा यह भी थी कि विवाह की इच्छा से आए हुए लोगों में से रूप, गुण, शौर्य आदि के कारण जिसे कन्या उत्तम समझती थी उसे अपना पति चुन लेती थी। इस चुनाव में परीक्षा के लिये कोई विषय भी निश्चित कर लिया जाता था।) स्रवन (श्रवण)—कान। हिय—हृदय।

अर्थ—मंगल देनेवाला स्वयंवर, जिसे कान से सुनने से हृदय में सीताजी तथा श्रीरामचंद्र का निवास हो जाता है, शुभ मुहूर्त में रचा गया।

टिप्पणी—स्वयंवर 'मंगलदायक' इस कारण है कि यह परमेश्वर रामचंद्रजी के वर्णन से युक्त होगा। गोसाईंजी ने 'मानस' आदि ग्रंथों में बार बार कहा है कि कानों का सुख रामगुणगान के सुनने में और हृदय की सच्ची पूर्णता राम के प्रति प्रेम में है।

देस सुहावन पावन बेद बखानिय।
भूमितिलक सम तिरहुत त्रिभुवन जानिय॥ ४॥

शब्दार्थ—बखानिय—वर्णन करते हैं। भूमितिलक—पृथ्वी का शिरोभूषण, सर्वोत्तम। तिलक—(सिंदूर आदि की) वह बिंदी जिसे स्त्रियाँ, शृंगार-स्वरूप, मस्तक पर लगाती हैं; अथवा वह खड़ा चिह्न जिसे वैष्णव अपने मस्तक पर लगाते हैं। तिरहुत—मिथिला, बिहार का एक प्रांत।

अर्थ—उस सुंदर पवित्र तिरहुत देश को, जिसका वर्णन वेद भी करते हैं (अर्थात् जिसका उल्लेख वेदों तक में आया है), तीनों लोकों में भूमिशिरोमणि जानिए।

टिप्पणी—(१) यह ध्यान में रखना चाहिए कि गोसाईंजी ने भगवत्संबंधी स्थान, कार्य और समय को स्थान स्थान पर उत्तम दिखाया है।

(२) 'हावन','पावन' तथा 'तिरहुत','त्रिभुवन' में अनुप्रास है।

तहँ बस नगर जनकपुर परम उजागर।
सीय लच्छि जहँ प्रगटी सब सुखसागर॥ ५॥

शब्दार्थ—जनकपुर—प्राचीन समय में जनकवंशियों की राजधानी, मिथिलापुरी। परम—बड़ा, अत्यंत। उजागर—दीप्तिमान्, चमकता हुआ, शानदार। लच्छि—लक्ष्मी। प्रगटी—पैदा हुई।

अर्थ—वहाँ (तिरहुत देश में) अत्यंत दिव्य जनकपुर नगर बसा है जहाँ पर सभी सुखों की समुद्र (आकर) लक्ष्मी सीताजी उत्पन्न हुई ।

टिप्पणी—(१) यहाँ सीताजी को लक्ष्मी कहने का एक विशेष अभिप्राय है। वह यह कि वे लक्ष्मी का अवतार हैं। लक्ष्मी सुख की देवी हैं अतः उनके लिये 'सुखसागर' कहना उचित ही है।

(२) दूसरे चरण का यह अर्थ नहीं है कि 'सुखसागर नगर में लक्ष्मी-रूपिणी सीताजी उत्पन्न हुई हैं।' न तो यहाँ रूपक है और न उपमा ही।

जनक नाम तेहि नगर बसै नरनायक।
सब गुनअवधि, न दूसर पटतर लायक॥ ६ ॥

शब्दार्थ—नरनायक—राजा, नरेश। अवधि—सीमा। पटतर—समान।

अर्थ—उस नगर में जनक नाम के राजा रहते हैं। वे सब गुणों की मर्यादा हैं (अर्थात् उनमें सारे गुण पूर्ण रूप में हैं)। उनकी समानता के योग्य दूसरा कोई नहीं है (अर्थात् वे अनुपमेय और अद्वितीय हैं)।

टिप्पणी—इस छंद में उपमानलुप्तोपमा अलंकार है।

भयउ न होइहि, है न, जनक सम नरवइ।
सीय सुता भै जासु सकल मंगलमइ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नरवइ—नरपति, राजा। सुता—कन्या।

अर्थ—जनक के समान राजा—जिनकी कन्या सर्व-कल्याणमयी सीताजी हुईं—न कोई हुआ, न है और न होगा।

टिप्पणी—इस छंद का प्रथम चरण उसी प्रकार का है जैसा 'मानस' के 'भयउ न अहइ न होवनिहारा' है। दूसरे चरण की रचना 'लीन्ह जाइ जगजननि जनम जिनके घर' की भाँति है।

नृप लखि कुँवरि सयानि बोलि गुरु परिजन।
करि मत रचेउ स्वयंबर सिवधनु धरि पन॥ ८॥

शब्दार्थ—सयानि—बड़ी उम्र की। परिजन—कुटुंबी। मत—मंत्रणा, सलाह। पन—प्रण, शर्त।

अर्थ—राजा ने कन्या को सयानी देखकर गुरु तथा कुटुंबियों को बुलाया और उनकी सलाह से, शिवजी का धनुष चढ़ाने की शर्त रखकर, स्वयंवर की रचना की।

टिप्पणी—राजा जनक ने अपने गुरु शंकरजी से उनका 'पिनाक' धनुष प्राप्त किया था, जो उनके पूजागृह में रखा था। कहा जाता है कि एक दिन जानकीजी ने, चौका लगाते समय, बाएँ हाथ से उसको उठाकर उसके नीचे की भूमि को भी लीप दिया। इससे जनक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि सीताजी का विवाह उसी राजा से होगा जो इस धनुष की उतरी हुई प्रत्यंचा को चढ़ा देगा। बंदीजनों ने इसी प्रण की घोषणा की थी—

'सोइ पुरारिकोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जेइ तोरा॥
त्रि-भुवन-जय-समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरै हठि तेही'॥
('मानस')

पन धरेउ सिवधनु रचि स्वयंबर अति रुचिर रचना बनी।
जनु प्रगटि चतुरानन देखाई चतुरता सब आपनी॥
पुनि देस देस सँदेस पठयउ भूप सुनि सुख पावहीं।
सब साजि साजि समाज राजा जनक-नगरहिं आवहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—रुचिर—सुंदर। चतुरानन—चतुर्मुख, ब्रह्मा।

अर्थ—शिवजी के धनुष (को चढ़ाने) का प्रण निर्धारित करके (जनक ने) स्वयंवर की अत्यंत सुंदर रचना कराई। स्वयंवर (रंगभूमि) की रचना इतनी सुंदर है कि मानों ब्रह्मा ने अपना सारा रचना-नैपुण्य यहीं प्रत्यक्ष दिखाया है। फिर राजा जनक ने भिन्न भिन्न देशों में इसका सँदेसा कहला भेजा, जिसे सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए। सब राजा अपना अपना समाज सजा सजाकर राजा जनक के नगर को आने लगे।

टिप्पणी—(१) संदेश भेजने का वर्णन गोसाईंजी ने कहीं नहीं किया। 'मानस' में उसका उल्लेख मात्र किया है—

'दीप दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पन ठाना॥'

× × ×

'धनुषजज्ञ सुनि रघु-कुल-नाथा।.....................॥'

(२) 'देस देस', 'साजि साजि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

रूप सील बय बंस बिरुद बल दल भले।
मनहुँ पुरंदरनिकर उतरि अवनी चले॥ १०॥

शब्दार्थ—बय (वय)—आयु। बिरुद—यश। पुरंदरनिकर—इंद्रों का समूह। अवनी—पृथ्वी।

अर्थ—वे (अभी आनेवाले राजा लोग) रूपवान्, सुशील, (तरुण) अवस्थावाले, कुलीन, यशस्वी, शक्तिशाली और समाज-सहित थे। (उन्हें देखने से) यही जान पड़ता था, मानों इंद्रों का समूह, नीचे उतरकर, पृथ्वी पर चल रहा है।

टिप्पणी—इस छंद में अत्युक्ति, उदात्त तथा वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हैं। बकार और लकार की आवृत्ति के कारण अनुप्रास भी है।

दानव देव निसाचर किन्नर अहिगन।
सुनि धरि धरि नृपबेष चले प्रमुदित मन॥ ११॥

शब्दार्थ—दानव—दैत्य। निसाचर—राक्षस। किन्नर—गंधर्व, देवताओं के गवैयों की एक जाति। अहिगन—नाग, यह भी पाताल में रहनेवाली एक जाति है। कहते हैं, नागों का सिर सर्पों का तथा शेष शरीर पुरुषों का सा होता है।

अर्थ—दानव, देवता, राक्षस, किन्नर और नाग (संदेश) सुनकर (मनुष्य) राजाओं का रूप धारण करके प्रसन्न चित्त से जनकपुरी को चले।

टिप्पणी—'धरि धरि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

एक चलहिं, एक बीच, एक पुर पैठहिं।
एक धरहिं धनु धाय नाइ सिर बैठहिं॥ १२॥

शब्दार्थ—पैठहिं—प्रवेश करते हैं। धाय—दौड़कर।

अर्थ—कोई जनकपुर को प्रस्थान कर रहा है, कोई कुछ दूर चलकर मार्ग में है और कोई जनकपुर में प्रवेश कर रहा है। (इधर रंगभूमि में) कोई दौड़कर धनुष पकड़ता है तो कोई लज्जित होकर बैठ रहा है।

टिप्पणी—(१) इस छंद में तुलसीदासजी ने स्वयंवर की चहल-पहल का संक्षेप में पूरा चित्र खींच दिया है।

(२) 'एक' की आवृत्ति से लाटानुप्रास अलंकार है।

रंगभूमि पुर कौतुक एक निहारहिं।
ललकि लोभाहिं नयन मन, फेरि न पारहिं॥ १३॥

शब्दार्थ—रंगभूमि—वह स्थान जहाँ कोई कौतुक या खेल हो रहा हो। यहाँ धनुष रखने के स्थान से तात्पर्य है जहाँ स्वयंवर हो रहा है। ललकि—उत्कंठित होकर। लोभाहिं—मोहित होते हैं। पारहिं—सकते हैं (यह शब्द बँगला का है और ठेठ अवधी में प्रयुक्त है)।

अर्थ—(१) रंगभूमि तथा नगर में एक (ही) दृश्य है (भीड़ ही भीड़ है)। नेत्र तथा मन उत्कंठित होकर ऐसे मुग्ध होते हैं कि फिर फेरे नहीं फिर सकते।

(२) एक नगर में रंगभूमि का खेल देखते हैं जो नेत्रों तथा मन को उत्सुकता के साथ खींचता है। वे इतने आकर्षित होते हैं कि फिर नहीं सकते।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में छेकानुप्रास अलंकार है।

जनकहि एक सिहाहिं देखि सनमानत।
बाहर भीतर भीर न बनै बखानत॥ १४॥

शब्दार्थ—सिहाहिं—ईर्ष्या करते हैं।

अर्थ—जनक को किसी का सम्मान करते देखकर दूसरे ईर्ष्या करते हैं। (रंगभूमि के) बाहर और भीतर की भीड़ का वर्णन नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी—ईर्ष्या के दो कारण हो सकते हैं; एक तो पहले अपना सम्मान होने की इच्छा, दूसरे जनक के भाग्य के प्रति सराहना। 'सिहाना' के प्रयोग के कारण दूसरा अर्थ अधिक ठीक मालूम होता है।

गान निसान कोलाहल कौतुक जहँ तहँ।
सीय-बियाह-उछाह जाइ कहि का पहँ?॥१५॥

शब्दार्थ—कोलाहल—शोर-गुल, हल्ला। का पहँ—किसके द्वारा।

अर्थ—गीतों की ध्वनि तथा बाजों के शब्द से कोलाहल हो रहा है। जहाँ-तहाँ खेल-तमाशे हो रहे हैं। सीताजी के विवाह का उत्साह किससे कहा जा सकता है?

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'न' तथा 'क' और दूसरी में 'ह' का अनुप्रास है।

गाधिसुवन तेहि अवसर अवध सिधायउ।
नृपति कीन्ह सनमान भवन लै आयउ॥१६॥

शब्दार्थ—गाधिसुवन—राजा गाधि के पुत्र, विश्वामित्र। तेहि अवसर—उस समय, जब जनकपुर में उक्त उत्सव हो रहा था। सिधायउ—चले गए। भवन—राजगृह।

अर्थ—उसी समय विश्वामित्रजी अयोध्या (राजा दशरथ के यहाँ) गए। राजा (दशरथ) ने उनका आदर-सत्कार किया और घर ले गए।

टिप्पणी—इस छंद से दूसरा प्रसंग आरंभ होता है।

पूजि पहुनई कीन्हि पाइ प्रिय पाहुन।
कहेउ भूप "मोहिं सरिस सुकृत किये काहु न"॥१७॥

शब्दार्थ—पहुनई—आतिथ्य। पाहुन—अतिथि, अभ्यागत। सुकृत—पुण्य।

अर्थ—प्रिय अतिथि (विश्वामित्रजी) को पाकर महाराज दशरथ ने उनका पूजन तथा आतिथ्य किया। इसके अनंतर वे बोले—"मेरे समान पुण्य किसी ने नहीं किए (; क्योंकि आप इतने बड़े महात्मा होकर मेरे घर आए)"।

टिप्पणी—'मानस' में ठीक ऐसा ही लिखा है—

'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा।.....................'॥

गीतावली में इस प्रकार का उल्लेख है—

'देखि मुनि! रावरे पद आज।
भयो प्रथम गनती में अब तें हौं जहँ लौं साधु समाज।'

'काहू न कीन्हेउ सुकृत' सुनि मुनि मुदित नृपहि बखानहीं।
महिपाल मुनि को मिलनसुख महिपाल मुनि मन जानहीं॥
अनुराग भाग सोहाग सील सरूप बहु भूषन भरीं।
हिय हरषि सुतन्ह समेत रानी आइ ऋषिपायन्ह परीं॥१८॥

शब्दार्थ—महिपाल—राजा। अनुराग—प्रेम, प्रीति। भाग—भाग्य। सोहाग (सौभाग्य)—सधवापन। सुतन्ह—लड़कों के।

अर्थ—'किसी ने पुण्य नहीं किया' ऐसा सुनकर प्रसन्न होकर विश्वामित्र राजा दशरथ के गुणों का बखान करते हैं। राजा और मुनि के मिलाप के सुख का अनुभव उन्हीं के मन कर सकते हैं। प्रेम, भाग्य, सोहाग, शील, रूप और तरह तरह के आभूषणों से युक्त रानियाँ--मन में प्रसन्न होती हुई--पुत्रों सहित विश्वामित्र ऋषि के चरणों पर पड़ीं (अर्थात् प्रणाम किया)।

टिप्पणी—इस छंद में कई अक्षरों की आवृत्ति है।

कौसिक दीन्हि असीस सकल प्रमुदित भईं।
सींची मनहुँ सुधारस कलपलता नईं॥१९॥

शब्दार्थ—कौसिक (कौशिक)—कुशिक के वंशज, विश्वामित्र। असीस—आशीर्वाद। कलपलता—कल्पवेलि।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने आशीर्वाद दिया। उनका आशीर्वाद पाकर सब रानियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं मानों अमृत के रस से सींची हुई नई कल्पवेलि लहलहा उठी हो।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) ऐसा सोचना ठीक नहीं कि सुधा का गुण जीवन-दान देना है, न कि हरा-भरा कर देना। वृक्षों, लताओं आदि का जीवन तो हरा-भरा होने में ही है; अतः उक्ति के विषय में कोई विशेष तर्क करके लेख को अवैज्ञानिक कहना उचित नहीं।

रामहिं भाइन्ह सहित जबहिं मुनि जोहेउ।
नैन नीर, तन पुलक, रूप मन मोहेउ॥ २०॥

शब्दार्थ—जोहेउ—देखा। नैन—नयन, नेत्र। नीर—आँसू।

अर्थ—भाइयों सहित राम को देखते ही मुनि की आँखों में प्रेमाश्रु भर आए और उनका शरीर पुलकित हो गया। राम के रूप पर उनका मन मुग्ध हो गया।

टिप्पणी—रामचरितमानस में इस स्थान पर कोई विषयांतर नहीं पाया जाता। उसमें तो उक्त भाव और भी प्रबल है—

'..................। राम देखि मुनि देह बिसारी॥
भये मगन देखत मुख-सोभा। जनु चकोर पूरनससि लोभा॥'

परसि कमलकर सीस हरषि हिय लावहिं।
प्रेमपयोधि-मगन मुनि, पार न पावहिं॥२१॥

शब्दार्थ—परसि—स्पर्श करके, छूकर। कर—हाथ। पयोधि—जल का स्थान, समुद्र।

अर्थ—विश्वामित्रजी अपने कर-कमलों से उनके सिर का स्पर्श करके, प्रसन्न होकर, उन्हें हृदय से लगाते हैं। मुनि ेम के

समुद्र में मग्न हो गए हैं। वे उसका पार नहीं पाते (प्रेम इतना अधिक है कि उसका अंत ही नहीं है)।

टिप्पणी—'क', 'ह', 'प', 'म' और 'पा' में बहुत सुंदर छेकानुप्रास है।

मधुर मनोहर मूरति सादर चाहहिं।
बार बार दसरथ के सुकृत सराहहिं॥ २२॥

शब्दार्थ—चाहहिं—देखते हैं। सादर—प्रेम या भक्ति के साथ।

अर्थ—विश्वामित्रजी कोमल मनोहर मूर्ति को भक्ति-पूर्वक देख रहे हैं और बार बार दशरथजी के पुण्यों को सराह रहे हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में श्रीरामचंद्र की सुंदरता का तथा किशोरावस्था में उनके दर्शन से वृद्ध आत्माओं में जो स्वाभाविक प्रेम हो उठता है उसी का अत्युक्ति से वर्णन किया गया है।

(२) प्रथम पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास है। 'बार बार' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार भी है।

राउ कहेउ कर जोरि सुबचन सुहावन।
"भयउँ कृतारथ आजु देखि पद पावन॥ २३॥

शब्दार्थ—राउ (राव)—राजा। कर—हाथ। सुबचन—सुखद वाक्य। कृतारथ—कृतार्थ, सफल। पद—चरण। पावन—पवित्र।

अर्थ—महाराज दशरथ हाथ जोड़कर विश्वामित्रजी से सुहावने वचन बोले—"आज आपके पवित्र चरणों के दर्शन से मेरा जीवन सफल हो गया।

टिप्पणी—इन शब्दों में शिष्टाचार की सीमा और साधुता का पुट है। गोसाईंजी ने गीतावली में कहा है—

"देखि मुनि! रावरे पद आज।
भयो प्रथम गनती में अब तें हौं जहँ लौं साधु-समाज।"

तुम्ह प्रभु पूरनकाम, चारि-फल-दायक।
तेहि ते बूझत काजु डरौं मुनिनायक" ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—पूरनकाम (पूर्णकाम)—जिसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हों। बूझत—पूछने में।

अर्थ—भगवन्! आपकी सब कामनाएँ पूरी हो चुकी हैं; साथ ही आप तो लोगों को चारों पदार्थ देनेवाले हैं। इसलिये आपका (यहाँ आने का) अभिप्राय पूछने में डरता हूँ।"

टिप्पणी—इसमें संदेह नहीं कि प्रश्न करने की यह प्रणाली बड़ी ही अनुपम है। 'मानस' में दशरथ अपने को छोटा और मुनि को बड़ा मानकर इसी अवसर पर इस प्रकार कहते हैं—

"केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥"

कौसिक सुनि नृपबचन सराहेउ राजहि।
धर्मकथा कहि कहेउ गयउ जेहि काजहि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—सराहेउ—प्रशंसा की। धर्मकथा—धर्म-कृत्य का वर्णन।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने राजा (दशरथ) के वचन सुनकर उनकी प्रशंसा की। फिर (उनके पूर्वजों के) धर्म-कृत्य का वर्णन करने के बाद अपने जाने का अभिप्राय कह सुनाया।

टिप्पणी—यह भी वाक्-चातुर्य का एक उत्तम ढंग है। पूर्वजों के कार्यों के उल्लेख द्वारा वंश-मर्यादा का स्मरण कराकर किसी को, अपने वांछित कार्य को पूर्ण करने के लिये, उद्यत करना प्रभावशाली मार्ग है। (ताड़का, मारीच आदि से यज्ञ की रक्षा करने के लिये राम-लक्ष्मण को माँगना ही मुनि का कार्य था)। 'मानस' में तो स्पष्ट कहा है—

'असुरसमूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयौं नृप तोही॥

अनुज समेत देहु रघुनाथा । निसि-चर-बध मैं होब सनाथा' ॥

जबहिं मुनीस महीसहि काज सुनायउ ।

भयउ सनेह-सत्य-बस उतर न आयउ ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—महीसहि—राजा को ।

अर्थ—जब महर्षि विश्वामित्र ने राजा को अपना कार्य सुनाया तब राजा स्नेह (वात्सल्य) और सत्य (प्रार्थी की कामना पूर्ण करने के वंशानुगत कर्तव्य) के वश होकर उत्तर न दे सके।

टिप्पणी—इस ग्रंथ में जानकी-विवाह का विशद वर्णन है; किन्तु यह वर्णन भी विस्तार के साथ किया जाता तो ग्रंथ का आकार बढ़ जाता। रामचरितमानस में मुनि का प्रश्न इस प्रकार है—

"असुरसमूह सतावहिं मोही । मैं जाचन आयौं नृप तोही ॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा । निसि-चर-बध मैं होब सनाथा ॥
देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान ।"

उनके इस प्रश्न का राजा ने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया ।

"रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन ।
कहि न सकत कछु, राम-प्रेमबस पुलक गात, भरे नीर नयन" ।
(गीतावली)

"सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी" ॥
('मानस')

आयउ न उतरु वसिष्ठ लखि बहु भाँति नृप समुझायऊ ।
कहि गाधिसुत तपतेज कछु रघुपतिप्रभाउ जनायऊ ॥
धीरजु धरेउ गुरुबचन सुनि कर जोरि कह कोसलधनी ।
"करुनानिधान सुजान प्रभु सों उचित नहिं बिनती घनी ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—रघुपति—रघुवंश के स्वामी, श्रीरामचंद्र । कोसलधनी—कोशल का राज्य है धन जिनका, दशरथ । करुनानिधान—दयालु । घनी—बहुत ।

अर्थ—दशरथजी के मुख से कोई उत्तर नहीं निकला। यह देखकर वशिष्ठजी ने उनको अनेक प्रकार से समझाया। विश्वामित्रजी की तपस्या का प्रभाव बताकर श्रीरामचंद्र के प्रभाव को सूचित किया। तब राजा दशरथ ने धैर्य धारण किया। वशिष्ठजी के वचन सुनकर उन्होंने हाथ जोड़कर (विश्वामित्रजी से) कहा—"हे दयालु मुनिवर! आप चतुर हैं; मेरे प्रभु हैं। आपसे अधिक विनती क्या करूँ?

टिप्पणी—'धनी' शब्द ब्रजभाषा और मारवाड़ी दोनों में एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है।

नाथ! मोहिं बालकन्ह सहित पुर परिजन।
राखनहार तुम्हार अनुग्रह घर बन" ॥२८॥

अर्थ—हे स्वामी! घर अथवा वन में सर्वत्र आपका ही अनुग्रह मेरी, मेरे बालकों की और कुटुंबियों तथा पुरवासियों की रक्षा करनेवाला है।"

टिप्पणी—'घर' तथा 'बन' के बाद अधिकरण कारक की विभक्ति लुप्त है।

दीन बचन बहु भाँति भूप मुनि सन कहे।
सौंपि राम अरु लखन पाँयपंकज गहे ॥२९॥

शब्दार्थ—दीन वचन—विनीत वाक्य। सन—से।

अर्थ—राजा (दशरथ) ने मुनि से अनेक प्रकार के विनीत वाक्य कहे और राम तथा लक्ष्मण को उन्हें सौंपकर उनके कमल के समान कोमल चरण पकड़ लिए।

टिप्पणी—'पाँयपंकज' में छेकानुप्रास अलंकार है।

पाइ मातु-पितु-आयसु गुरु पाँयन परे।
कटि निषंग पट पीत, करनि सरधनु धरे ॥१०॥

शब्दार्थ—आयसु (आदेश)—आज्ञा। कटि—कमर। निषंग—तरकस। पीत—पीला। पट—वस्त्र। करनि—हाथों में। सर (शर)—बाण।

अर्थ—राम और लक्ष्मण कमर में तरकस कसे, पीले वस्त्र पहने तथा हाथों में धनुष-बाण लिए हुए थे। माता-पिता की आज्ञा पाकर वे गुरुजी के चरणों पर गिर पड़े।

टिप्पणी—(१) रामचंद्र आदि को वशिष्ठजी ने अपने आश्रम में शिक्षा दी थी; अतः राम-लक्ष्मण ने उन्हीं को प्रणाम किया और बिदा ली।

(२) छंद के दूसरे चरण का स्थानापन्न पाठ रामचरितमानस में इस प्रकार है—

'कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा'॥

पुरवासी नृप रानिन संग दिये मन।
वेगि फिरेउ करि काज कुसल रघुनंदन ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—संग दिये मन—(१) साथ में अपने मन दिए; उनका मन राम-लक्ष्मण के साथ गया। (२) अपनी स्वीकृतियाँ (आज्ञाएँ) दीं। वेगि—जल्दी। रघुनंदन—(१) रघुवंशियों की संतान; (२) रघुवंश को आनंद देनेवाले, श्रीरामचंद्र।

अर्थ—(रामचंद्रजी जब वन को जाने लगे तब) नगर-निवासियों तथा राजा और रानियों के मन उनके साथ लग गए। सब ने कहा कि मुनि का काम करके शीघ्र कुशलपूर्वक लौटना।

टिप्पणी—इस छंद में सहोक्ति अलंकार है।

ईस मनाइ असीसहिं जय जस पावहु।
न्हात खसै जनि बार, गहरु जनि लावहु ॥१२॥

शब्दार्थ—मनाइ—स्मरण करके, मन्नतें मान मानकर। जय—जीत। जस (यश)—कीर्ति। न्हात—नहाते समय। खसे—गिरे। जनि—नहीं। बार—बाल। गहरु—देर, विलंब।

अर्थ—ईश्वर को मनाकर सभी यह आशीर्वाद देते हैं कि विजय और यश प्राप्त करो। स्नान करते समय भी तुम्हारा बाल तक न गिरे। (अर्थात् तुम्हारे शरीर वज्रवत् हों और कोई तुम्हें चोट न पहुँचा सके।) लौटने में देर न करना।

टिप्पणी—(१) इस छंद में मानव-समाज की प्रकृति का तथा वियोग-जनित चिंता का पूरा चित्र खींचा गया है।

(२) उक्त छंद में लोकोक्ति अलंकार है।

चलत सकल पुरलोग वियोग विकल भये।
सानुज भरत सप्रेम राम पाँयन नये ॥१३॥

शब्दार्थ—सानुज—छोटे भाई शत्रुघ्न के सहित। नये—गिरे, झुके।

अर्थ—रामचंद्रजी के प्रस्थान से सभी नगरवासी उनके विरह में व्याकुल हो गए। भरत और शत्रुघ्न ने बड़े प्रेम से रामचंद्रजी के चरणों पर सिर नवाया।

टिप्पणी—दूसरे चरण में भारतीय शिष्टाचार को स्थान मिला है।

होहिं सगुन सुभ मंगल जनु कहि दीन्हेउ।
राम लषन मुनि साथ गवन तब कीन्हेउ ॥१४॥

शब्दार्थ—गवन (गमन)—यात्रा।

अर्थ—सभी शुभ शकुन हो रहे हैं, मानों उन्होंने इसी प्रकार मंगल की सूचना दी। राम लक्ष्मण इसी समय विश्वामित्र मुनि के साथ चले।

टिप्पणी—इस छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

स्यामल गौर किसोर मनोहरतानिधि।
सुखमा सकल सकेलि मनहुँ बिरचे बिधि॥ २५॥

शब्दार्थ—स्यामल—साँवला। मनोहरता—सुंदरता। निधि—कोष, भांडार। सुखमा—सौंदर्य। सकेलि—एकत्र करके। बिरचे—विरचित किया, बनाया।

अर्थ—श्याम और गौर वर्ण के, किशोर अवस्थावाले, राम और लक्ष्मण सुंदरता के भांडार हैं; माने ब्रह्मा ने सारी सुंदरता को एकत्र करके ही उन्हें बनाया है।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

बिरचे बिरंचि बनाइ बाँची रुचिरता रंचौ नहीं।
दस चारि भुवन निहारि देखि बिचारि नहिं उपमा कही॥
ऋषि संग सोहत जात मग छबि बसति सो तुलसी हिये।
कियो गमन जनु दिननाथ उत्तर संग मधु माधव लिये॥ २६॥

शब्दार्थ—बाँची—बची, बाकी रही। रंचौ—तनिक भी। दस चारि—चौदह। निहारि—देखकर, खोजकर। दिननाथ—सूर्य। मधु—चैत्र मास। माधव—वैशाख।

अर्थ—ब्रह्माजी ने इन्हें सँवारकर बनाया, संसार में तनिक भी सुंदरता छोड़ नहीं रखी (अर्थात् श्रीरामचंद्र तथा लक्ष्मण संसार की संपूर्ण सुंदरता से बने हैं)। चौदहों भवनों में ढूँढ़-

कर देखा और विचार किया परंतु इनके लिये कोई उपमा अथवा अधिक (सौंदर्य) गुणवाली वस्तु नहीं मिली। ऋषि के साथ जाते हुए श्रीरामचंद्र की सुंदरता मुझ तुलसी के हृदय में वास करती है। वे ऐसे जा रहे हैं जैसे सूर्यनारायण उत्तरायण में, चैत्र और वैशाख को साथ लिए हुए, जाते हों।

टिप्पणी—(१) इस छंद के अंतिम चरण में गोसाईंजी ने अपना ऋतु-संबंधी ज्ञान दिखाया है।

(२) उक्त छंद के पूर्वार्द्ध में उपमानलुप्तोपमा तथा उत्तरार्द्ध में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

गिरि तरु बेलि सरित सर बिपुल बिलोकहिं।
धावहिं बाल सुभाय, बिहँग मृग रोकहिं॥१७॥

शब्दार्थ—सर—तालाब। बिपुल—बहुत। सुभाय—स्वभाव। बिहँग—पक्षी। मृग—हिरन।

अर्थ—मार्ग में जाते हुए राम-लक्ष्मण अनेक पर्वत, वृक्ष, लताएँ, नदियाँ और तालाब देखते हैं और, जैसा छोटे लड़कों का स्वभाव होता है, पक्षियों और हिरनों को रोकने के लिये दौड़ते हैं।

टिप्पणी—यहाँ बाल-स्वभाव का चित्रण अत्यंत उत्तम है।

सकुचहिं मुनिहिं सभीत बहुरि फिरि आवहिं।
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिं॥१८॥

शब्दार्थ—सकुचहिं—संकोच करते हैं। सभीत—डर से। फिरि आवहिं—लौट आते हैं। किसलय—कोंपल।

अर्थ—(वे) विश्वामित्र का संकोच करते हैं और डरकर लौट आते हैं, फूल फल तथा कोमल पत्ते तोड़कर माला बनाते हैं।

टिप्पणी—उक्त छंद में स्वभावोक्ति अलंकार है।

देखि बिनोद प्रमोद प्रेम कौसिक उर।
करत जाहिं घन छाँह, सुमन बरषहिं सुर ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—बिनोद प्रमोद—आमोद-प्रमोद। उर—हृदय (में)।

अर्थ—राम-लक्ष्मण का आमोद-प्रमोद देखकर विश्वामित्र का हृदय प्रेम से भर जाता है। बादल उनके लिये छाया करते तथा देवता फूल बरसाते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में यह प्रकट किया गया है कि भगवान् रामचंद्र की लीला से मुनिवर प्रफुल्लित हैं और बादल इसी लिये धूप को रोकते हैं कि उन्हें कष्ट न हो। इस समय वर्षा ऋतु का आगमन होनेवाला था; अतएव बादलों का बार बार आ जाना स्वाभाविक ही है। ३६वें पद्य के अंतिम चरण में कहा जा चुका है कि राम तथा लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र वैसे ही जा रहे हैं जैसे (कुछ दिन पूर्व ही) चैत्र और वैशाख के साथ सूर्य भगवान्।

(२) रामचरितमानस के अरण्यकांड में भी, देवत्व की प्रतिष्ठा के निमित्त, कहा है—

"जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया" ॥

बधी ताड़का; राम जानि सब लायक।
विद्या-मंत्र-रहस्य दिये मुनिनायक ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—बधी—बध किया। लायक—योग्य। विद्या-मंत्र—धनुर्विद्या-मंत्र।

अर्थ—श्रीरामचंद्र ने ताड़का का वध किया। उन्हें सब प्रकार से योग्य जानकर मुनिवर विश्वामित्र ने शस्त्र-विद्या तथा शस्त्रों के चलाने के मंत्र (गुर) आदि बता दिए।

टिप्पणी—'लायक' उर्दू शब्द है। तत्कालीन परिस्थिति से प्रभावित होने के कारण गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं में बहुत से उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है।

मग-लोगन्ह के करत सफल मन लोचन।
गये कौसिक आस्रमहिं बिप्र-भय-मोचन॥ ४१॥

शब्दार्थ—मग (मार्ग)—रास्ता। लोचन—नेत्र, आँखें। बिप्र-भय-मोचन—ब्राह्मणों के भय को दूर करनेवाले।

अर्थ—मार्ग के लोगों के मन और नेत्रों को सफल करते हुए ब्राह्मणों के भय को भगानेवाले श्रीरामचंद्र और लक्ष्मण विश्वामित्रजी के आश्रम को गए।

टिप्पणी—'मग-लोगन्ह' में छेकानुप्रास अलंकार है।

मारि निसाचर-निकर यज्ञ करवायउ।
अभय किये मुनिवृंद जगत जसु गायउ॥ ४२॥

शब्दार्थ—निकर—समूह, वृंद, झुंड।

अर्थ—राक्षसों को मारकर विश्वामित्रजी का यज्ञ करवाया; और मुनियों को निर्भय किया (राक्षसों का उपद्रव दूर कर दिया)। संसार में उनका यश गाया गया।

टिप्पणी—इस छंद की दोनों पंक्तियों में छेकानुप्रास अलंकार है।

बिप्र साधु सुरकाज महामुनि मन धरि।
रामहिं चले लिवाइ धनुषमख मिसु करि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—काज—काम। (सभी की यह इच्छा थी कि राक्षसों को मारकर भगवान् संसार को पाप-रहित करें। मुनियों की धारणा है कि सीताजी की सहायता से ही यह संभव था; क्योंकि वे शक्तिरूपिणी हैं अतः सीताजी के साथ रामचंद्रजी का विवाह हो जाने से यह कार्य पूरा होने की आशा है।) मख—यज्ञ। मिसु—बहाना।

अर्थ—मन में ब्राह्मणों, साधुओं तथा देवताओं के कार्य को सोचकर विश्वामित्र मुनि रामचंद्रजी को बहाने से धनुष-यज्ञ के लिये ले चले।

टिप्पणी—संभव है, महामुनि होने के कारण वे सीताहरण की बात पहले से जानते रहे हों।

गौतमनारि उधारि पठै पतिधामहिं।
जनकनगर लै गयउ महामुनि रामहिं ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—गौतमनारि—गौतम ऋषि की पत्नी।

अर्थ—गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का उद्धार करके और उसको गौतम के आश्रम को भेजकर विश्वामित्र मुनि रामचंद्रजी को मिथिलापुरी ले गए।

टिप्पणी—(१) इस छंद में गौतम ऋषि की स्त्री को तारने का सूक्ष्म रूप से उल्लेख किया गया है। ऋषिपत्नी अहल्या परम सुंदरी थी। एक दिन इंद्र के छल से जब महर्षि गौतम ब्राह्म मुहूर्त में स्नान करने चले गए तब गौतम का वेष धारण कर इंद्र आश्रम में घुस आया। उसने अहल्या का सतीत्व नष्ट कर दिया। काम-वासना के कारण अहल्या की बुद्धि मारी गई। इंद्र को पहचान लेने पर

भी उसने उसका तिरस्कार नहीं किया। इसी समय गौतम ऋषि लौट आए। उनकी आहट पाकर अहल्या ने इंद्र से कहा—"तुम यहाँ से जल्द भागकर मेरी तथा अपनी रक्षा करो।" इंद्र को कुटी से निकलते समय गौतम ऋषि ने देख लिया और उसे शाप दिया। फिर अहल्या को भी शाप दे दिया—"अरी पापिष्ठा, तू पत्थर हो जा और हजार वर्षों तक केवल वायु-भक्षण करती हुई दुःख भोग।" अब अहल्या ने, पश्चात्ताप करते हुए, शापोद्धार की प्रार्थना की। दयार्द्र होकर ऋषि ने कहा कि त्रेतायुग में दशरथजी के पुत्र रामचंद्र जब यहाँ से होकर जायँगे तब उनके चरणों का स्पर्श कर तू अपनी दुर्दशा से छुटकारा पा जायगी और फिर मेरे पास आने के योग्य होगी।

इस प्रकार अभिशप्ता अहल्या शिलारूप में पड़ी थी, उसको भगवान् रामचंद्र ने अपने चरणों का स्पर्श कराकर तार दिया और वह अपने पति (गौतम ऋषि) के पास चली गई।

(२) वाल्मीकि-रामायण में अहल्या के पत्थर होने का उल्लेख नहीं है; केवल उसका अदृश्य होना वर्णित है।

लै गयउ रामहि गाधिसुवन बिलोकि पुर हरषे हिये।
सुनि राउ आगे लेन आयउ सचिव गुरु भूसुर लिये॥
नृप गहे पाँय, असीस पाई मान आदर अति किये।
अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन दिये॥ ४५॥

शब्दार्थ—पुर—जनकपुर को। सचिव—मंत्री। भूसुर—ब्राह्मण, पृथ्वी के देवता। अनुभवत—अनुभव करते हैं। ब्रह्मसुख—परब्रह्म के दर्शन होने का आनंद। सौगुन—सौगुना।

अर्थ—विश्वामित्रजी रामचंद्र को जनकपुर ले गए। नगर देखकर वे अपने हृदय में बड़े प्रसन्न हुए। विश्वामित्रजी का

आगमन सुनकर राजा जनक मंत्री, गुरु तथा ब्राह्मणों को लेकर उनकी अगवानी के लिये आए। राजा ने उनके चरण पकड़ लिए। मुनि ने उन्हें आशीर्वाद दिया और राजा ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। राजा जनक रामचंद्र को देखकर ब्रह्मानंद का सौगुना आनंद अनुभव करते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद के अंतिम चरण में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) यह वर्णन गोसाईंजी की सभी कृतियों में, जिनमें रामचरित वर्णित है, बहुत उत्कृष्ट हुआ है—

"पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी।
बिस्वामित्र महामुनि आये। समाचार मिथिलापति पाये॥
कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा"॥

('मानस')

"आये सुनि कौसिक जनक हरषाने हैं।
बोलि गुरु भूसुर समाज सों मिलन चले,
जानि बड़े भाग अनुराग अकुलाने हैं॥
नाइ सीस पगनि, असीस पाइ प्रमुदित
पाँवड़े अरघ देत आदर सों आने हैं।
असन बसन बास कै सुपास सब बिधि,
पूजि प्रिय पाहुने, सुभाय सनमाने हैं॥ आदि......
ब्रह्मानंद हृदय, दरस-सुख लोयननि।
अनुभए उभय, सरस राम जाने हैं"॥

(गीतावली)

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ।
बँधेउ सनेह बिदेह, बिराग बिरागेउ॥४६॥

शब्दार्थ—अनुरागेउ—अनुरक्त हो गया। विदेह—ब्रह्म-परायण होने के कारण जिसे अपनी देह की सुध न रहती हो, राजा जनक। विराग—वैराग्य।

अर्थ—श्रीरामचंद्र का रूप देखकर जनक का मन उनमें अनुरक्त हो गया। 'विदेह'जी उनके स्नेह में बँध गए और वैराग्य से विरक्त हो गए; अथवा वैराग्य स्वयं विशेष प्रकार से अनुरक्त हो गया।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में गोसाईंजी ने विशेष चमत्कार दिखाया है। जब कोई पुरुष किसी पर मुग्ध हो जाता है तब वह अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु को भी छोड़ बैठता है। जनकजी ने रामचंद्र पर मुग्ध होकर अपना जन्म भर का संचित तथा उपलब्ध फल वैराग्य छोड़ दिया। रामचंद्र पर मुग्ध हो जाने की असीमता प्रकट करने के लिये 'विदेह' शब्द रखा गया है। देही स्नेह में जल्द बँध जाते हैं किंतु 'विदेह' के बँध जाने में विशेष शक्ति का प्रभाव होता है।

जो पूर्ण विरक्त हैं वे किसी से प्रेम नहीं करते किंतु रामचंद्र को देखते ही उनका वैराग्य अपने आप दूर हो गया।

रामचरितमानस में यही चित्र इतना मनोहर नहीं है—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी॥

इसमें प्रत्यक्ष रूप से ही चित्त के केंद्रित हो जाने की चर्चा है; वह माधुर्य नहीं आ सका। गीतावली में इसका उल्लेख यों है—

"भये बिदेह बिदेह नेहबस देहदसा बिसराये"।

(२) 'विराग विरागेउ' में यमक अलंकार भी हो सकता है।

प्रमुदित हृदय सराहत भल भवसागर।
जहँ उपजहिं अस मानिक, बिधि बड़ नागर॥४७॥

शब्दार्थ—सराहत—प्रशंसा करते हैं। भल—भला, अच्छा, अनोखा। भवसागर—संसार-समुद्र। बिधि—ब्रह्मा। नागर—चतुर।

अर्थ—राजा जनक प्रसन्न मन से सराहने लगे कि संसार-समुद्र अच्छा है (कैसा विचित्र है) कि उसमें ऐसे ऐसे माणिक उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा सचमुच बड़े चतुर हैं।

टिप्पणी—(१) संसार को सभी बुरा कहते हैं। फिर विरक्त जनक के लिये तो वह और भी तुच्छ है। परंतु श्रीरामचंद्र तथा लक्ष्मण के स्नेह में वे इतने अधिक बँध गए हैं कि उन्हें इतनी बुरी वस्तु (संसार) भी अच्छी लगने लगी; क्योंकि राम-लक्ष्मण भव-सागर में माणिक-रूप थे।

(२) इस छंद में रूपक तथा ललित अलंकार हैं।

पुन्यपयोधि मातुपितु ये सिसु सुरतरु।
रूप-सुधा-सुख देत नयन अमरनि बरु॥ ४८॥

शब्दार्थ—पुन्यपयोनिधि—पुण्य का समुद्र। सिसु—शिशु, बालक। सुरतरु—कामवृक्ष, कल्पतरु। सुधा—अमृत। अमरनि—देवताओं को। बरु—भी।

अर्थ—इन बालकों के माता-पिता पुण्य के समुद्र हैं और ये बालक कल्पवृक्ष हैं। ये रूप-रूपी अमृत का सुख देवताओं तक के नेत्रों को देते हैं; अर्थात् मनुष्य की तो बात ही क्या, देवता भी रूप से मुग्ध हो जाते हैं।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में रूपक अलंकार है।

(२) इस बात का संकेत है कि कल्पवृक्ष समुद्र-मंथन में मिला है।

"केहि सुकृती के कुँवर" कहिय मुनिनायक।
"गौर स्याम छबिधाम धरे धनुसायक॥ ४९॥

शब्दार्थ—सुकृती—पुण्यात्मा। सायक—बाण। स्याम—साँवले।

अर्थ—जनकजी ने पूछा—"हे मुनिनाथ विश्वामित्रजी! हाथों में धनुष-बाण धारण करनेवाले शोभागार ये साँवले और गोरे दोनों कुमार किस पुण्यात्मा के हैं?

टिप्पणी—तुलसीदासजी ने प्राय: 'स्याम गौर' ही लिखा है; किंतु यहाँ, बरवै रामायण की ही तरह, 'गौर स्याम' लिखा है। गोरे लक्ष्मण थे और बड़े भाई रामचंद्रजी साँवले थे।

गीतावली में पूर्वार्द्ध छंद इस प्रकार है—

"बूझत जनक 'नाथ ढोटा दोउ काके हैं'?

× × × ×

कौने बड़े भागी के सुकृत परिपाके हैं॥"

विषयविमुख मन मोर सेइ परमारथ।

इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ" ॥५०॥

शब्दार्थ—विषयविमुख—भोग-विलास से उचटा हुआ। सेइ—सेवन करके। परमारथ—तत्वज्ञान, धर्मकार्य। मगन—आनंदित।

अर्थ—परमार्थ का सेवन करने से मेरा हृदय भोग-विलास से उचट गया है; फिर भी इनको देखकर, अपना बड़ा स्वार्थ जानकर, मेरा मन इनके रूप पर मुग्ध हो गया"।

टिप्पणी—रामचरितमानस में यह वर्णन ठीक इसी प्रकार है। ४९ वें छंद 'धरे धनुसायक' से जो तात्पर्य निकलता है उसकी व्यंजना इस प्रकार की गई है।

"कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक"॥

इसी ग्रंथ में अन्यत्र वर्णित है।

"सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा"॥

कहेउ सप्रेम पुलकि मुनि सुनि, "महिपालक !
ये परमारथरूप ब्रह्ममय बालक॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—महिपालक—पृथ्वी का पालन करनेवाला, राजा ।

अर्थ—विश्वामित्र मुनि ने प्रसन्न होकर प्रेम से कहा—"हे राजा ! ये परमार्थ-रूप ब्रह्ममय बालक हैं (अर्थात् जिसे आप परमार्थ-सेवन कहते हैं वह इन्हीं की भक्तिचर्या है तथा जिसे ब्रह्म कहते हैं वह यही हैं) ।

टिप्पणी—उनके अनुराग को उचित ठहराने के लिये यह छंद कहा गया है ।

पूषन-बंस-विभूषन दसरथनंदन ।
नाम राम अरु लषन सुरारिनिकंदन" ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—पूषन (पूषण)—सूर्य । नंदन—पुत्र । सुरारि—देवों के शत्रु, राक्षस । निकंदन—नाश करनेवाले । विभूषन (विभूषण)—अलंकार ।

अर्थ—सूर्यवंश को अलंकृत करनेवाले महाराज दशरथ के पुत्र और राक्षसों का संहार करनेवाले इन (वीर-कुमारों) के नाम राम तथा लक्ष्मण हैं" ।

टिप्पणी—रामचरितमानस में केवल इतना ही दिया है—

"रघुकुल-मनि दसरथ के जाये । ......"॥

"राम लखन दोउ बंधु ...... जिते असुर संग्राम" ॥

रूप सील वय बंस राम परिपूरन ।
समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन ॥५३॥

शब्दार्थ—पन—प्रण । लाग बिसूरन—शोक करने लगे ।

अर्थ—रामचंद्रजी को रूप, शील, आयु और वंश सबसे युक्त (अतः जानकी के लिये यथोपयुक्त वर) समझ-

कर और अपने कठिन प्रण का विचार कर जनकजी शोक करने लगे।

टिप्पणी—यहाँ पर बिलकुल स्पष्ट है कि जनक जैसे विरक्त और कर्तव्यशील राजर्षि भी, स्वार्थ के कारण, अपनी ही प्रतिज्ञाओं पर संकोच प्रकट करते हैं। इसका कारण प्रेमातिरेक ही है।

लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै।
लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै॥
कौसिक सराही रुचिर रचना, जनक सुनि हरषित भये।
तबराम लषनसमेत मुनि कहँ सुभग सिंहासन दये॥५४॥

शब्दार्थ—रुचिर—सुंदर। सुभग—सुंदर। दये—दिए।

अर्थ—अपने प्रण को (कठिन) समझकर जनकजी पश्चात्ताप करने लगे; फिर मन में धैर्य धारण करके अनेक प्रकार से आदर-सत्कार करने के बाद रंगभूमि दिखाने को ले चले। (वहाँ) विश्वामित्रजी ने सुंदर कारीगरी की प्रशंसा की जिसे सुनकर जनकजी प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण को सुंदर सिंहासन दिए।

टिप्पणी—'बिसूरना' शब्द का साधारण अर्थ शोक के साथ किसी बात पर सोचना है। कबीर आदि कवियों ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।

राजत राजसमाज जुगल रघुकुलमनि।
मनहुँ सरदबिधु उभय, नखत धरनीधनि॥५५॥

शब्दार्थ—राजत—शोभित हैं। जुगल—दो। सरदबिधु—शरद् ऋतु का चंद्रमा। धरनीधनि—पृथ्वीनाथ, राजा।

अर्थ—राजाओं की मंडली में दोनों रघुवंशी ऐसे शोभित हैं मानो शरत्चंद्र हों और (आसपास बैठे हुए) राजा लोग (कांतिहीन) नक्षत्र हों।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में कहा है—

"राजसमाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे" ॥

'मानस' से ही प्रथम चरण मिलाओ—

"राजत राजसमाज महँ, कोसल-राज-किसोर"।

द्वितीय चरण (विशेषार्थ-युक्त उसी उपमा में)—

"प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे"।

किंतु इसमें 'हिय हारे' के भाव की अधिकता है।

पार्वती-मंगल में शिवजी का वर्णन भी इसी प्रकार है—

"संभु सरद राकेस नखतगन सुरगन"।

गीतावली में राम-लक्ष्मण का उक्त वर्णन और भी उत्कृष्ट है—

"सभा सरवर, लोक-कोकनद-कोकगन
प्रमुदित मन देखि दिनमनि भोर हैं।
अबुध असैले मन-मैले महिपाल भये,
कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं" ॥

(२) उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

काकपच्छ सिर, सुभग सरोरुहलोचन।
गौर स्याम सत-कोटि-काम-मद-मोचन ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—काकपच्छ—काले बाल, जुल्फ, गुँथे हुए बाल; कौए का पंख। सरोरुह—कमल, सरसिज। लोचन—नेत्र। सत (शत)—सौ।

अर्थ—उनके सिर पर काली जुल्फें शोभित हैं। उनके नेत्र कमल के समान सुंदर हैं। गोरे और श्याम दोनों लक्ष्मण-रामचंद्र सौ करोड़ कामदेवों के रूप-मद को दूर करनेवाले हैं।

टिप्पणी—उक्त छंद के 'काकपच्छ' से यह अर्थ भी निकल सकता है कि वे सिर में काक के पक्ष (पंख) धारण किए हुए हों। रामचरित-मानस में कहा है—'मोरपंख सिर सोहत नीके'। क्योंकि काक के स्थान में मोर सौंदर्य के लिये उचित कह दिया गया है। वैसे "गुच्छ बीच बिच कुसुम-कली के" वह (काकपक्ष) भी सुंदर प्रतीत होगा। साधारण 'काकपक्ष' का अर्थ सिर के बगल के बड़े बालों से है जो ज़ुल्फ कहे जाते हैं। अमरकोष में बालकों की चोटी को काकपक्ष और शिखंडक कहा है।

उक्त छंद का मिलान 'मानस' के निम्नलिखित दोहे से बहुत कुछ मिलता है। कारण यह है कि गोसाईंजी ने वर्णन विस्तृत किए हैं और प्राय: कुछ ही उपमाओं से काम लिया है। यदि यह कहा जाय कि पुरुषों के शरीर-वर्णन की सारी कल्पनाएँ कुछ सीमित सी हैं तो अनुचित न होगा। बरवों में ही कुछ भिन्न प्रणाली देखी जाती है।

"बय किसोर सुखमासदन, स्यामगौर सुखधाम।
अंग अंग पर बारिअहि, कोटि कोटि सत काम"॥

तिलक ललित सर, भ्रुकुटी काम-कमानै।
स्रवन बिभूषन रुचिर देखि मन मानै॥ ५७॥

शब्दार्थ—ललित—सुंदर। सर—शर, बाण। भ्रुकुटि—भौंहें। काम—कामदेव। स्रवन—कान। बिभूषन—गहना।

अर्थ—बाण के समान सुंदर तिलक है और भौंहें कामदेव के धनुष के समान हैं। कान का सुंदर भूषण तो देखते ही बनता है।

टिप्पणी—'मानस' में कहा है—

"काननिह कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोर जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक-रेख-सोभा जनु चाकी"॥

बरवै रामायण में—

"भालतिलक सर, सोहत भौंह कमान"।

नासा चिबुक कपोल अधर रद सुंदर।
बदन सरद-बिधु-निंदक सहज मनोहर ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—नासा—नासिका, नाक। चिबुक—ठुड्डी। कपोल—गाल। अधर—ओंठ। रद—दाँत। बदन—मुख, आनन। सहज—स्वभाव से।

अर्थ—उनकी नाक, ठुड्डी, गाल, ओंठ और दाँत सुंदर हैं। उनका मुख शरद् ऋतु (क्वार और कार्तिक मास) के चंद्रमा को भी निंदित करनेवाला और स्वाभाविक मनोमोहकता से युक्त है।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में प्रतीप तथा स्वभावोक्ति अलंकार हैं।

(२) 'मानस' में उक्त सभी अंगों के वर्णन पर प्रकाश डाला गया है। अंतिम चरण का भाव उसी प्रकार 'सरदचंदनिंदक मुख नीके' में भली भाँति वर्णित है।

उर बिसाल वृषकंध सुभग भुज अति बल।
पीत बसन उपवीत, कंठ मुकुताफल ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—उर—हृदय, वक्षःस्थल, छाती। वृषकंभ—बैल के से कंधेवाले। पीत—पीला। बसन—वस्त्र। उपवीत—जनेऊ। कंठ—गला। मुकुताफल—मोती।

अर्थ—उनकी छाती विशाल है, उनके कंधे बैल के कंधे के समान (पुष्ट तथा बड़े) हैं। उनकी भुजाएँ सुंदर और बलिष्ठ हैं। वे पीले वस्त्र पहने और जनेऊ धारण किये हुए हैं। उनके गले में मोतियों की माला शोभित है।

टिप्पणी – मिलाइए—

"केहरिकंधर बाहु बिसाला । उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥
उर मनिमाल कंबुकल ग्रीवाँ । काम-कलभ-कर भुज बलसींवाँ ॥
वृषभकंध केहरिठवनि, बलनिधि बाहुबिसाल" ॥

× × ×

"पीत जज्ञ-उपवीत सोहाये" ।

('मानस')

"कंधर बिसाल, बाहु बड़े बरजोर हैं" ।

(गीतावली)

कटि निषंग, कर-कमलन्हि धरे धनुसायक ।
सकल अंग मनमोहन जोहन लायक ॥ ९० ॥

शब्दार्थ—कटि—कमर । निषंग—तरकस । कर—हाथ । मन-मोहन—मन मोहनेवाले । जोहन लायक—देखने योग्य ।

अर्थ—वे कमर में तरकस बाँधे तथा कमल-रूपी कोमल हाथों में धनुष-बाण लिए हैं । उनके सभी अंग मन को मोहने-वाले हैं; वे देखने ही योग्य हैं ।

टिप्पणी—छंद के पहले चरण को निम्न-लिखित से मिलाइए—

"कटि तूनीर पीत पट बाँधे । कर सर धनुष वाम बर काँधे" ॥

('मानस')

"नीके कै निषंग कसे, कर कमलनि लसै, बान बिसिषासन मनोहर कठोर हैं" ॥

(गीतावली)

राम-लषन-छबि देखि मगन भये पुरजन ।
उर आनँद, जल लोचन, प्रेम पुलक तन ॥ ९१ ॥

शब्दार्थ—पुरजन—नगर-निवासी ।

अर्थ—श्रीरामचंद्र तथा लक्ष्मण की सुंदरता देखकर जनक-पुर के निवासी आनंद में मग्न हो गए । उनके हृदय में आनंद है । नेत्रों में (हर्ष के) आँसू आ गए हैं । उनका शरीर प्रेम से पुलकित हो गया है ।

टिप्पणी—मिलाइए—

"देखि लोग सब भये सुखारे । एकटक लोचन टरत न टारे" ॥

('मानस')

नारि परस्पर कहहिं देखि दुहुँ भाइन्ह ।
"लहेउ जनमफल आजु जनमि जग आइन्ह ॥९२॥

शब्दार्थ—परस्पर—आपस में ।

अर्थ—दोनों भाइयों को देखकर स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि संसार में जन्म लेने का फल आज मिला, अर्थात् जन्म सार्थक हो गया ।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'ज' का अनुप्रास है ।

जग जनमि लोचनलाहु पाये" सकल सिवहि मनावहीं ।
"बर मिलौ सीतहि साँवरो हम हरषि मंगल गावहीं" ॥
एक कहहिं "कुँवर किसोर कुलिस-कठोर सिवधनु है महा ।
किमि लेहिं बाल मराल मंदर नृपहिं अस काहु न कहा" ९ ।

शब्दार्थ—लाहु—लाभ । सिवहि—शिवजी को । कुलिस—वज्र । महा—बड़ा । मराल—हंस । मंदर—एक बड़ा पर्वत ।

अर्थ—संसार में जन्म लेकर नेत्रों का फल हमने पा लिया । सभी शिवजी को मनाती हैं कि सीताजी को साँवला वर मिले

और हम लोग मंगल गावें। एक कहती है कि ये कुँवर किशोर अवस्था के हैं और शिवजी का धनुष वज्र के समान बड़ा ही कठोर है। राजा जनक से ऐसा किसी ने नहीं कहा कि हंस का बच्चा मंदराचल पर्वत को कैसे उठा सकता है।

टिप्पणी—रामचरितमानस में इस भाव से मिलता-जुलता अवतरण इस प्रकार है—

"देखि रामछबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि एह बरु अहई॥
जौं बिधिबस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू॥
कोउ कह संकरचाप कठोरा। ए स्यामल मृदुगात किसोरा॥
कोउ न बुझाइ कहै नृप पाहीं। ए बालक अस हठ भल नाहीं॥
सो धनु राज-कुअँर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं"॥

भे निरास सब भूप बिलोकत रामहिं।
"पन परिहरि सिय देब जनक बर स्यामहिं" ॥६४॥

शब्दार्थ—निरास (निराश)—नाउम्मेद।

अर्थ—राम को देखते ही सब राजा निराश हो गए। (उन्हें यह आशा न रही कि अब सीताजी का ब्याह, राम की उपस्थिति में, दूसरे के साथ करना किसी दशा में चाहेंगे। वे आपस में कहने लगे कि) राजा जनक प्रण छोड़कर साँवले वर के साथ सीता का ब्याह कर देंगे।

टिप्पणी—रामचरितमानस में भी कुछ राजाओं ने यही बात प्रकट की—

"बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय रामउर माला"॥

कहहिं एक "भलि बात, ब्याहु भल होइहि।
बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि" ॥६५॥

शब्दार्थ—भल—अच्छा। लगि—लिये। अपन—अपना। खोइहि—गँवा देगा।

अर्थ—कोई कहता है कि यह बात अच्छी है; ब्याह भी सुंदर होगा। जनकजी राम और जानकी के लिये अपना प्रण छोड़ देंगे। (अर्थात् राम पर जनकजी इतने मुग्ध हैं कि वे कलंक का ध्यान न करेंगे।)

टिप्पणी—ऊपर के और आगे के छंदों में मनोभावों का अच्छा चित्रण है।

सुचि सुजान नृप कहहिं "हमहिं अस सूझइ।
तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥ ६६॥

शब्दार्थ—सुचि (शुचि)—सौम्य, साधु। सुजान—चतुर, नीतिज्ञ। सूझइ—सूझता है, समझ पड़ता है। बूझइ—जानना चाहिए।

अर्थ—सज्जन नीतिज्ञ राजाओं ने कहा—"हमारी समझ में तो बल वहीं समझना चाहिए जहाँ तेज, प्रताप और रूप हो।

टिप्पणी—मिलाइए—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'।

चितइ न सकहु रामतन, गाल बजावहु।
बिधिबस बलउ लजान, सुमति न लजावहु॥६७॥

शब्दार्थ—तन—ओर, शरीर। गाल बजावहु—डींग मारते हो, बातें मारते हो। बलउ—बल भी।

अर्थ—उन्होंने कहा कि राम की ओर (सीधी आँख करके) देख तक तो सकते नहीं हो; व्यर्थ ही सब बढ़-बढ़कर अपनी करनी की गाथा सुनाते हो। भाग्यवश तुम लोगों

का बल तो (इन्हें देखकर) लजा ही गया है (क्योंकि धनुष नहीं तोड़ सके); अब अपनी बुद्धि को भी लज्जित न कराओ ("बृथा मरहु जनि गाल बजाई") ।

टिप्पणी—उक्त छंद में श्रीरामचंद्र के तेज और प्रताप का उल्लेख है ।

अवसि राम के उठत सरासन टूटिहि ।
गवनिहि राजसमाज नाक असि फूटिहि ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ—अवसि—अवश्य । सरासन (शरासन)—धनुष । गवनिहि—गमन करेगा । नाक असि फूटिहि—(१) नाक सी कट जायगी, बेइज्जती हो जायगी । (२) नाक फूटने से जिस प्रकार रक्त आदि बह निकलता है ।

अर्थ—अवश्य हो रामचंद्रजी के खड़े होने पर धनुष टूटेगा और राजाओं का समुदाय फूटी नाक लेकर चला जायगा अर्थात् निर्लज्ज हो जायगा ।

टिप्पणी—अंतिम पद में लोकोक्ति अलंकार है ।

कस न पियहु भरि लोचन रूप-सुधा-रसु ।
करहु कृतारथ जनम, होहु कत नरपसु" ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ—कस—क्यों । कत—क्यों । नरपसु—मनुष्य-रूपी चौपाया ।

अर्थ—श्रीरामचंद्र के रूप-रूपी अमृत के रस-पान से अपने नेत्रों की अभिलाषा क्यों नहीं पूरी करते ? (आँखें सदैव सौंदर्य का दर्शन करना चाहती हैं; अतः उनका संवर्द्धन करने के लिये रूपमय राम का दर्शन करो ।) इनके दर्शन से अपना जन्म सफल करो । नरपशु क्यों बने जा रहे हो ?"

टिप्पणी—'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।' ('मानस')

दुहुँ दिसि राजकुमार बिराजत मुनिबर।
नील पीत पाथोज बीच जनु दिनकर॥ ७० ॥

शब्दार्थ—दुहुँ दिसि—दोनों ओर। पाथोज—कमल। दिनकर—सूर्य।

अर्थ—दोनों ओर राजकुमार हैं और (बीच में) मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी, वे इस प्रकार शोभा देते हैं मानों नीले और पीले कमल के बीच में सूर्य हों।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

काक-पच्छ ऋषि परसत पानि सरोजनि।
लाल कमल जनु लालत बालमनोजनि॥ ७१ ॥

शब्दार्थ—पानि (पाणि)—हाथ। सरोजनि—कमलों से। लालत—लाड़-प्यार करता है। मनोजनि—कामदेवों को।

अर्थ—ऋषि विश्वामित्र कमलरूपी हाथों से राम-लक्ष्मण की जुल्फों पर ऐसे हाथ फेरते हैं मानों लाल कमल दो बाल-कामदेवों को प्यार करता हो।

टिप्पणी—इस छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। हाथों को 'सरोज' कहकर फिर भी कमल से उनकी उपमा दी गई है और इस प्रकार एक ही बात दो बार कही गई है। कमल और काम-देवों का मिलन प्रकृति-विरुद्ध या अस्वाभाविक सा है; अतः कथन नीरस सा हो गया है।

"मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहू।
बिनु काज राजसमाज महँ तजि लाज आपु बिगोवहू॥"

सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे।
रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे ॥७२॥

शब्दार्थ—मनसिज—कामदेव। जोवहु—देखते हो। बिगोवहु—बकवाद करते हो। ठगे—छले गए।

अर्थ—'कामदेव के समान सुंदर मूर्ति को भक्ति के साथ क्यों नहीं देख लेते? राज-समाज में निर्लज्जता-पूर्वक क्यों व्यर्थ बकबक करते हो?'—अन्य राजाओं को इस प्रकार शिक्षा देकर साधु राजा लोग अपूर्व शोभा देखने लगे। उनके नेत्र रघुवंशी राम-लक्ष्मण को उसी प्रकार एकटक देखने लगे जिस प्रकार चकोर चंद्रमा को देखता है।

टिप्पणी—(१) मिलाइए—

"अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे"॥

('मानस')

(२) प्रथम पंक्ति में 'म' का वृत्त्यनुप्रास अलंकार, दूसरी में विनोक्ति अलंकार और अंतिम में रूपक तथा वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

पुर-नर-नारि निहारहिं रघुकुल-दीपहि।
दोसु नेहबस देहिं बिदेह महीपहि॥ ७३ ॥

शब्दार्थ—रघुकुल-दीपहि—श्रीराम को।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष श्रीरामचंद्र को देखते हैं और उनके प्रति उत्पन्न होनेवाले स्नेह के वश होकर राजा जनक को दोष देते हैं (कि वे प्रण पर अब भी इतने दृढ़ क्यों हैं)।

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में 'ह' का अनुप्रास है।

एक कहहिं "भल भूप, देहु जनि दूषन।
नृप न सोह बिनु बचन, नाक बिनु भूषन॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—दूषन—दोष। बचन—प्रतिज्ञा, प्रण।

अर्थ—"कोई कहते हैं कि भले (निर्दोष) राजा जनक को दोष न दो। अपने वचनों पर स्थिर न रहनेवाला राजा शोभित नहीं रहता (अर्थात् उसका राज्य ठीक नहीं रहता); जैसे बिना नाकवाले मनुष्य के सारे गहने (उसकी कुरूपता के कारण) शोभा नहीं पाते (कुरूपता के कारण उसकी हँसी होती है)।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में दृष्टांत अलंकार है।

हमरे जान जनेस बहुत भल कीन्हेउ।
पनमिस लोचनलाहु सबन्हि कहँ दीन्हेउ॥ ७५॥

शब्दार्थ—जनेस—नरेश, राजा। पनमिस—प्रण के बहाने।

अर्थ—कोई कहते हैं कि हमारी समझ में राजा ने (प्रण करके) बड़ा अच्छा किया। उन्होंने प्रण के बहाने हम सबको नेत्र-लाभ (दर्शन-सुख) दिया।

टिप्पणी—रामचरितमानस में लिखा है—

"एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयनलाहु हमहिं बिधि दीन्हा"॥

अस सुकृती नरनाहु जो मन अभिलाषिहि।
सो पुरइहि जगदीस पैज पन राखिहि॥ ७६॥

शब्दार्थ—नरनाहु—राजा। पैज—प्रतिज्ञा। पन—(१) प्रतिज्ञा (प्रण); (२) होड़ या शर्त (पण)।

अर्थ—महाराज जनक ऐसे पुण्यात्मा हैं कि परमात्मा उनकी सारी अभिलाषाएँ पूरी करेंगे और राजा की प्रतिज्ञा तथा शर्त सब स्थिर रखेंगे।

टिप्पणी—'पैज' 'पन' में पुनरुक्तप्रकाश अलंकार है।

प्रथम सुनत जो राउ राम-गुन-रूपहि।
बोलि ब्याहि सिय देत दोष नहिं भूपहि ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ—प्रथम—पहले। राउ—राव, राजा।

अर्थ—यदि जनकजी ने पहले स्वरूपवान् तथा गुणवान् राम के विषय में सुना होता तो वे उनको बुलाकर जानकी ब्याह देते (किंतु ऐसा तो हुआ ही नहीं; जब उन्होंने प्रतिज्ञा की, जिसे सुनकर मुनि के साथ वे आ गए तब राजा ऐसा कर ही कैसे सकते थे)। इसलिये राजा का दोष नहीं है।

टिप्पणी—इस छंद में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

अब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै।
बिधिगति जानि न जाइ, अजसु जग जागै ॥७८॥

शब्दार्थ—पंच महँ—पंचों के मध्य में। अजसु—अयश। जागै—उत्पन्न हो, सोते से जगे।

अर्थ—अब यदि पंचों के सम्मुख प्रतिज्ञा करके प्रण को छोड़ दें, तो (हम तो यह कह नहीं सकते कि क्या होगा) ब्रह्मा की गति जानी नहीं जाती (संभव है, कोई ऐसे विघ्न आ जावें कि फिर भी इनके साथ ब्याह न हो सके); परंतु संसार में अपयश तो अवश्य मिलेगा।

टिप्पणी—प्रथम और द्वितीय पंक्ति में क्रमशः 'प' और 'ज' का अनुप्रास है।

अजहुँ अवसि रघुनंदन चाप चढ़ाउब।
ब्याह उछाह सुमंगल त्रिभुवन गाउब" ॥७९॥

शब्दार्थ—अजहुँ—अब भी।

अर्थ—(किंतु) अब भी रघुनंदन अवश्य धनुष चढ़ावेंगे और सारा संसार (तीनों लोक) उनके ब्याह के उछाह में मंगल-गान करेगा"।

टिप्पणी—'ब'कारांत क्रिया पूर्वी अवधी की विशेषता है।

लागिं झरोखन्ह झाँकहिं भूपतिभामिनि।
कहत बचन रद लसहिं दमक जनु दामिनि ॥८०॥

शब्दार्थ—झरोखा—खिड़की, झँझरी। भामिनि—स्त्री। रद—दाँत। लसहिं—शोभा पाते हैं। दामिनि—बिजली।

अर्थ—राजा की स्त्री (सुनयना) झरोखे से झाँकने लगीं। जब वे बोलती हैं तब उनके दाँत ऐसे चमकते हैं जैसे बिजली चमकती हो।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

जनु दमक दामिनि, रूप रति मृदु निदरि सुंदरि सोहहीं।
मुनि ढिग दिखाये सखिन्ह कुँवर बिलोकि छबिमन मोहहीं॥
सियमातु हरषी निरखि सुखमा अति अलौकिक राम की।
हियकहति"कहँधनुकुँवरकहँ बिपरीतगतिबिधिबाम की८१

शब्दार्थ—मृदु—कोमल। निदरि—निंदा करके, लज्जित करके। सुंदरि—सुंदरी स्त्रियाँ। ढिग—पास। अलौकिक—जो सांसारिक न हो, लोकोत्तर, बहुत ही सुंदर। विधि बाम—टेढ़ा ब्रह्मा, कुटिल विधाता।

अर्थ—बिजली की दमक के समान उज्ज्वल तथा रति के रूप का निरादर करनेवाली अनेक स्त्रियाँ शोभायमान हैं। सखियों ने राजकुमारों को मुनि के पास (इंगित करके) दिखाया। सभी

छवि को देखकर मुग्ध हो गईं। रामचंद्रजी की अलौकिक सुंदरता को देखकर सीताजी की माता बड़ी प्रसन्न हुईं और हृदय में कहने लगीं, कहाँ यह (कठोर) धनुष और कहाँ यह (किशोर) बालक! टेढ़े बिधना की चाल ही विपरीत है।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में प्रतीप अलंकार है।

कहि प्रिय बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति।
"कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति॥ ८२॥

शब्दार्थ—बिसूरति—सोचती है।

अर्थ—रानी सखियों से प्यारे प्यारे शब्द कहकर शोक करती हैं "कहाँ तो यह कठिन धनुष और कहाँ यह कोमल मूर्त्ति!

टिप्पणी—रामचरितमानस में लिखा है—

"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा"॥

जौ बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं।
तौ कोउ नृपहि न देत दोसु परिनामहिं॥ ८३॥

शब्दार्थ—लोचन अतिथि—आँखों का मेहमान, दर्शन की वस्तु।

अर्थ—यदि विधाता राम को नेत्रों का मेहमान न करता तो महाराज को फलतः कोई दोष न देता।

टिप्पणी—(१) उक्त बात से विदित होता है कि रानी ने राजाओं की बात सुनी और उन्हें दुःख हुआ।

(२) इस छंद में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

अब असमंजस भयउ न कछु कहि आवै।"
रानिहि जानि ससोच सखी समुझावै॥ ८४॥

शब्दार्थ—असमंजस—दुबिधा की दशा। ससोच—शोक-युक्त।

अर्थ—अब तो असमंजस आ पड़ा; कुछ कहा नहीं जाता।" महारानी को शोक-युक्त जानकर सखी समझाती है।

टिप्पणी—'असमंजस' ठेठ बोलचाल का शब्द है जिसका अर्थ किंकर्त्तव्यविमूढ़ता है।

"देवि! सोच परिहरिय, हरष हिय आनिय।
चाप चढ़ाउब राम बचन फुर मानिय॥ ८५॥

शब्दार्थ—परिहरिय—छोड़ दीजिए। आनिय—लाइए। फुर—सत्य।

अर्थ—हे देवि! सोच को त्यागकर हृदय में हर्ष लाइए। मेरी यह बात सत्य जानिए कि राम धनुष चढ़ावेंगे।

टिप्पणी—इस छंद में 'ह' तथा 'च' का अनुप्रास है।

तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहि करतल।
सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल?" ॥ ८६॥

शब्दार्थ—तीनि काल—भूत, भविष्य और वर्तमान समय। करतल—हथेली। (हथेली में होना—प्राप्त हो जाना।) कि—क्यों। आनहि—लावेगा।

अर्थ—विश्वामित्रजी भूत, भविष्य और वर्तमान सभी समयों की बातें जाननेवाले हैं (उन्होंने आज की भी दशा पहले ही जान ली होगी)। वे बिना बल के बालक को स्वयंवर में क्यों लाते? (अर्थात् उनको धनुष चढ़ाने में समर्थ जानकर ही लाए होंगे।)

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'क' का और दूसरी में 'ब' तथा 'ल' का अनुप्रास है।

मुनिमहिमा सुनि रानिहि धीरजु आयउ।
तब सुबाहु-सूदन-जसु सखिन सुनायउ ॥ ८७ ॥

शब्दार्थ—सूदन—मारनेवाला। जसु—यश।

अर्थ—विश्वामित्र की प्रशंसा सुनकर रानी को धैर्य हुआ। तब सखियों ने सुबाहु को मारनेवाले राम का यश सुनाया।

टिप्पणी—उक्त छंद में 'सुबाहु-सूदन-जसु' से यही तात्पर्य है कि सखियों ने राम के विषय में यह कहा कि उन्होंने ऐसी ही आयु में सुबाहु जैसे दुर्दांत राक्षस का वध किया है।

सुनि जिय भयउ भरोस रानि हिय हरखइ।
बहुरि निरखि रघुबरहि प्रेम मन करखइ ॥ ८८ ॥

शब्दार्थ—भरोस—भरोसा, विश्वास। बहुरि—फिर। करखइ—कर्षित करता है; खींचता है।

अर्थ—ये बातें सुनकर रानी के हृदय में विश्वास हुआ। वे प्रसन्न होती हैं और जब फिर राम को देखती हैं तब उनका मन प्रेम से खिंच जाता है।

टिप्पणी—'भ', 'ह', 'र' तथा 'म' का अनुप्रास है।

नृप रानी पुरलोग रामतन चितवहिं।
मंजु मनोरथ-कलस भरहिं अरु रितवहिं ॥ ८९ ॥

शब्दार्थ—मनोरथ-कलस—इच्छा-रूपी घड़ा। रितवहिं—रिक्त करते हैं, खाली करते हैं।

अर्थ—राजा, रानी और नगरनिवासी, सभी राम की ओर देखते हैं। वे अपने सुंदर मनोरथ-रूपी घड़े को भरते और खाली करते हैं।

टिप्पणी—(१) जब वे यह सोचते हैं कि इनमें अवश्य कुछ बल है और ये धनुष तोड़ेंगे तब उनकी इच्छा पूर्ण हो जाती है। किंतु जब वे उनकी कोमलता पर विचार करते हैं और समझते हैं कि धनुष इनसे न टूटेगा तब उनका मनोरथ छूँछा रह जाता है।

(२) 'मंजु मनोरथ' में छेकानुप्रास तथा अंतिम पंक्ति में क्रियोत्प्रेक्षा का भाव है।

रितवहिं भरहिं धनु निरखि छिनुछिनु निरखि रामहि सोचहीं
नर नारि हरष-विषाद-बस हिय सकल सिवहि सकोचहीं॥
तब जनकआयसु पाइ कुलगुरु जानकिहि लै आयऊ।
सिय रूपरासि निहारि लोचनलाहु लोगन्हि पायऊ॥ ८० ॥

शब्दार्थ—सकोचहीं—डरते हैं। आयसु—आज्ञा। रूपरासि—सुंदरता की ढेरी।

अर्थ—(अपने मनोरथ-रूपी घड़े को) लोग भरते और खाली करते हैं; क्षण क्षण में धनुष तथा राम को देख देखकर चिंता करते हैं। स्त्री-पुरुष हर्ष और विषाद के वश हैं। सभी शिवजी को डरते हैं (उन्हें कोई बुरा नहीं कहता क्योंकि उनका अपमान न जाने क्या क्या कर सकता है)। उसी समय जनकजी की आज्ञा पाकर कुलगुरु शतानंदजी जानकीजी को (रंगभूमि में) ले आए। रूपराशि सीताजी को देखकर सबने नेत्रों का सुख पाया।

टिप्पणी—'सकोचहीं'—संकोच के साथ उन्हीं की कृपा की ओर देखते हैं यह भी अर्थ हो सकता है।

मंगल भूषन बसन मंजु तन सोहहिं।
देखि मूढ़ महिपाल मोहबस मोहहिं॥ ८१ ॥

शब्दार्थ—बसन—कपड़े। मंजु—सुंदर। महिपाल—राजा। मोह-बस—अज्ञान के वशीभूत होकर।

अर्थ—सीताजी के सुंदर शरीर में मांगलिक आभूषण तथा वस्त्र शोभित हैं। मूर्ख राजा लोग देखकर अज्ञान के कारण मुग्ध होते हैं।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है—

"सोह नवलतनु सुंदर सारी। .... ॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये। .... ॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर-नारी"

रूपरासि जेहि ओर सुभाय निहारइ।
नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ॥ ८२॥

शब्दार्थ—सुभाय—स्वभाव से ही। श्रेनि (श्रेणी)—पंक्ति। मयन (मदन)—कामदेव।

अर्थ—रूप की राशि जानकीजी जिस ओर सहज ही देखती हैं उसी ओर ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव नीले कमलों के बाणों की झड़ी लगा देता है। (अर्थात् वे जिधर ही देखती हैं, सभी काम के वशीभूत होकर उनकी ओर मुग्ध दृष्टि से देखने लगते हैं। यहाँ काली पुतली से नीले कमल का सामंजस्य स्थापित किया गया है।)

टिप्पणी—(१) इस छंद के शाब्दिक अर्थ और रंगभूमि में मुनियों आदि की उपस्थिति का ठीक ठीक सामंजस्य नहीं बैठता।

(२) इस छंद में उपमेयलुप्तोपमा अलंकार है।

छिनु सीतहि छिनु रामहि पुरजन देखहिं।
रूप सील बय बंस बिसेष बिसेषहिं॥ ८३॥

शब्दार्थ—बिसेषहिं—विश्लेषण करते हैं, छान-बीन करते हैं।

अर्थ—पुर के लोग कभी तो सीता को और कभी राम को देखते हैं। उनके रूप, आचार, अवस्थाएँ और वंश एक से एक बढ़कर हैं (अर्थात् छानबीन करके उन्हें सबसे उत्तम ठहराते हैं)।

टिप्पणी—इस छंद में साधारण मनोभाव का अच्छा चित्र है।

राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक।
दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक॥ ८४॥

शब्दार्थ—तकि तकि—ताक ताककर। सायक—बाण।

अर्थ—श्रीरामचंद्र ने जब सीताजी को और सीताजी ने श्रीरामचंद्र को देखा तब कामदेव ने दोनों के शरीरों को लक्ष्य बना बनाकर बाण संधाने (अर्थात् दोनों एक दूसरे को देख प्रेम के वश हो गए)।

टिप्पणी—ऐसा स्पष्ट वर्णन गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों में नहीं है।

प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं।
जनु हिरदय गुन-ग्राम-थूनि थिर रोपहिं॥ ८५॥

शब्दार्थ—प्रमोद—आनंद। गोपहिं—छिपाते हैं। गुन-ग्राम—गुणों का ग्राम (समूह)। थूनि (स्थूण)—खंभा। रोपहिं—गाड़ते हैं, स्थिर करते हैं।

अर्थ—वे दोनों अपने आनंद और प्रेम को प्रकट करने से छिपाते हैं (अर्थात् प्रकट नहीं होने देते), मानों हृदय में गुण-समूह की थूनी को स्थिरता के साथ रोपते हैं (उसे गिरने न देकर खड़ा रखते हैं)।

टिप्पणी—उक्त छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। पहली पंक्ति में 'प' का अनुप्रास है।

रामसीय बय, समौ, सुभाय सुहावन।
नृप जोबन छबि पुरइ चहत जनु आवन॥ ८६॥

शब्दार्थ—समौ—समय, वक्त। जोबन—यौवन। पुरइ—पुर में।

अर्थ—श्रीराम-जानकी की अवस्था, समय तथा स्वभाव सभी सुहावना है। मानों यौवन-रूपी नृप छवि-रूपी नगर में प्रवेश करना चाहता है। तात्पर्य यह कि राम तथा सीता की छवि में युवावस्था के लक्षण आने लगे हैं।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में 'स' का अनुप्रास और दूसरी पंक्ति में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

सो छबि जाइ न बरनि देखि मन मानै।
सुधापान करि मूक कि स्वाद बखानै ?॥ ८७॥

शब्दार्थ—मन मानै—चित्त प्रसन्न होता है। सुधापान—अमृत पीने की क्रिया। मूक—गूँगा।

अर्थ—उस छवि को देखकर चित्त प्रसन्न होता है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अमृत पीकर भी क्या गूँगा उसके स्वाद का बखान कर सकता है ?

टिप्पणी—इस छंद में दृष्टांत अलंकार है।

तब बिदेहपन बंदिन्ह प्रगटि सुनायउ।
उठे भूप आमरषि सगुन नहिं पायउ॥ ८८॥

शब्दार्थ—आमरषि—क्रोध करके, जोश में। सगुन—शकुन; (स+गुन) रस्सी।

अर्थ—तब वंदीजनों ने विदेह का प्रण कह सुनाया। राजा लोग जोश से उठे, परंतु उन्हें शकुन नहीं मिला।

टिप्पणी—(१) सगुन—हिंदुओं में शकुनों पर बड़ा विश्वास किया जाता है। अच्छे शकुन कार्य-सिद्धि के प्रमाण-स्वरूप समझे जाते हैं। यदि शकुन न हों तो कार्यसिद्धि में विघ्न की कल्पना की जाती है।

(२) 'सगुन' से "प्रत्यंचा सहित धनुष न हो सका" ऐसा अर्थ निकालना खींचतान है।

नहिं सगुन पायेउ रहे मिसु करि एक धनु देखन गये।
टकटोरि कपि ज्यौं नारियरु सिर नाइ सब बैठत भये॥
इक करहिं दाप, न चाप सज्जनबचन जिमि टारे टरै।
नृप नहुष ज्यों सब के बिलोकत बुद्धिबल बरबस हरै॥८८॥

शब्दार्थ—टकटोरि—टटोलकर। कपि—वानर। दाप—घमंड।

अर्थ—शकुन न मिलने पर कुछ (राजा) केवल देखने जाने का बहाना करके धनुष की ओर टकटकी बाँधकर देखते रहे। जैसे बंदर नारियल को टटोलकर छोड़ देता है वैसे ही अन्य (राजा) धनुष को छू छूकर नीचा सिर करके बैठ गए। कुछ (राजा) घमण्ड करते हैं; किंतु धनुष साधुओं के वचनों की तरह हटाये नहीं हटता। जैसे घमंड से नहुष का बल और बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही सबके देखते हुए सब राजाओं की बल-बुद्धि नष्ट हो गई।

टिप्पणी—(१) नहुष की अंतर्कथा—यह चंद्रवंश का, आधुनिक "झूसी" का, राजा था। तप और यज्ञ के प्रभाव से इसे इंद्र का पद मिल गया। इंद्रलोक में इसने

इंद्राणी से मिलने की इच्छा प्रकट की। अपने सतीत्व की रक्षा के लिये इंद्राणी ने, चालाकी करके, यह प्रार्थना की कि आप ऐसी पालकी पर सवार होकर आवें जिसमें सप्तर्षि लगे हों। ऐसा ही हुआ। ऋषि लोग धीरे धीरे चल रहे थे। उधर राजा जल्द पहुँचने के लिये उतावला हो रहा था। अतः उसने "सर्प सर्प" कहकर उनसे शीघ्र चलने के लिये कहा। ऋषि लोग इस अपमान को न सह सके। महर्षि अगस्त्य ने क्रोध से शाप दे दिया—"मूर्ख, तू मृत्युलोक में सर्प हो जा।" निदान राजा सर्प होकर गिर पड़ा।

(२) उक्त छंद में अनुप्रास, उपमा, क्रियोत्प्रेक्षा आदि अलंकार हैं।

देखि सपुर परिवार जनकहिय हारेउ।
नृपसमाज जनु तुहिन बनजबन मारेउ॥ १०० ॥

शब्दार्थ—तुहिन—तुषार, पाला। बनज—कमल।

अर्थ—यह देखकर नगर (के निवासियों) तथा परिवार के सहित जनकजी का दिल टूट गया। राजाओं की ऐसी दशा हो गई मानों कमलों के वन में पाला पड़ गया हो।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

कौसिक जनकहि कहेउ "देहु अनुसासन"।
देखि भानु-कुल-भानु इसानु-सरासन॥ १०१ ॥

शब्दार्थ—अनुसासन—आज्ञा। भानु-कुल-भानु—सूर्यवंश के सूर्य। इसानु (ईशान)—शिवजी।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने सूर्यवंश के सूर्य श्रीरामचंद्र और धनुष की ओर देखकर जनक से कहा—"आज्ञा दीजिए।" (अभिप्राय यह कि कौशिक ने रामचंद्रजी को

दिखाकर धनुष की ओर संकेत करते हुए जनक से धनुष तोड़ने के लिये आज्ञा देने को कहा।)

टिप्पणी—भानु शब्द की आवृत्ति में लाटानुप्रास है।

"मुनिबर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहि।
तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहि॥ १०२॥

शब्दार्थ—मेरु—मंदराचल पर्वत। आचरत—आचरण करना चाहिए। पाँच भल—पाँच भले आदमी।

अर्थ—महाराज जनक कहते हैं कि "हे मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि आपके कहने से पर्वत और पृथ्वी हिल सकती है तथापि पाँच भले आदमी जो कहें उसी के अनुसार चलना ठीक है। (अभिप्राय यह कि यद्यपि आप सर्वशक्तिमान् हैं और आपका कहा टल नहीं सकता—मनुष्य की तो बात ही क्या, प्रकृति भी आपका कहना मानती है—तथापि पाँच भले आदमी जिस बात को कहें उसी को व्यावहारिक दृष्टि से मानना चाहिए।)

टिप्पणी—इस छंद से प्रकट होता है कि महाराज जनक को विश्वामित्रजी की अलौकिक शक्ति पर विश्वास होते हुए भी रामचंद्रजी की शक्ति में संदेह था।

बानु बानु जिमि गयउ, गवहिं दसकंधरु।
को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु॥ १०३॥

शब्दार्थ—बानु—बाणासुर। यह दैत्यराज शिवजी का भक्त और बलि का पुत्र था। कहते हैं कि यह कभी कभी पाताललोक में अपने पिता की सेवा के लिये जाया करता था और वहाँ शेष नाग को करवट बदलवाने के लिये अपने सिर पर पृथ्वी को धारण कर लेता था। बानु जिमि—बाण की भाँति, बड़ी तेजी से। गवहिं—(१) घर को; गाँव को; (२)

गँव से। दसकंधरु—दस कंधोंवाला रावण। धुरंधरु—धुरी धारण करनेवाला, नायक, महान्।

अर्थ—बाणासुर बाण की भाँति (बहुत शीघ्र) चला गया। रावण भी अपने गँव से (चुपके चुपके) चला गया, अथवा घर चला गया। पृथ्वीतल पर इनके समान श्रेष्ठ धीर-वीर दूसरा कौन है?

टिप्पणी—(१) रामचरितमानस में देखिए—

"रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे" ॥

(२) 'बानु' 'बानु' में यमक अलंकार है। उपमानलुप्तोपमा अलंकार भी है।

पारबती-मन सरिस अचल धनुचालक।

हहिं पुरारि तेउ एक-नारि-व्रत-पालक ॥ १०४ ॥

शब्दार्थ—अचल—अपने स्थान से न हटनेवाला, स्थिर, दृढ़। हहिं—हैं। पुरारि—शिवजी। तेउ—वे भी। एक-नारि-व्रत-पालक—एकपत्नी-व्रती, गृहस्थ ब्रह्मचारी, विषयवासना से रहित।

अर्थ—पार्वतीजी के स्थिर (एक-पति-व्रती) चित्त की भाँति ही धनुष चलानेवाले शिवजी हैं जो स्वयं भी एकपत्नीव्रती (ब्रह्मचारी) सुस्थिरचित्त हैं।

टिप्पणी—इस छंद में 'पातिव्रत' तथा 'एकपत्नीव्रत' की महत्ता दिखाई गई है।

सो धनु कहि अवलोकन भूपकिसोरहि।

भेद कि सिरिससुमन-कन कुलिस कठोरहि ॥१०५॥

शब्दार्थ—सिरिससुमन—सिरस (शिरीष) का फूल। इस फूल की पंखड़ियाँ बहुत कोमल होती हैं। कन—टुकड़ा। कुलिस—वज्र; इंद्र का अस्त्र जो दधीचि की हड्डियों से बना है।

अर्थ—(आप कहते हैं कि) वही धनुष राजकुमार श्री-रामचंद्र चलकर देखें। कहीं शिरीष-पुष्प का कण वज्र को बेध सकता है ?

टिप्पणी—(१) 'मानस' में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

"बिधि केहि भाँति धरै उर धीरा। सिरिस-सुमन-कन बेधिअ हीरा॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा"॥
('मानस')

(२) इस छंद में दृष्टांत अलंकार है।

रोम रोम छबि निंदति सोम मनोजनि।
देखिय मूरति, मलिन करिय मुनि सो जनि" ॥१०६॥

शब्दार्थ—रोम रोम—रोयाँ रोयाँ, प्रत्येक अंग। सोम—चंद्रमा। मनोजनि—कामदेवों को। मलिन—मैला। करिय जनि—मत कीजिए।

अर्थ—हे मुनिजी! श्रीरामचंद्र का प्रत्येक अंग चंद्रमा और कामदेव को लज्जित करता है। ऐसी मूर्ति देखिए; इसकी कांति को मैली मत कीजिए"। (अर्थात् धनुष तोड़ने के सदृश कठिन कार्य में संयोजित कर विफलता का आमंत्रण करके इनकी आकृति को मलिन न होने दीजिए।)

टिप्पणी—उक्त छंद में निदर्शना अलंकार है।

मुनि हँसि कहेउ "जनक यह मूरति सो हइ।
सुमिरत सकृत मोहमल सकल बिछोहइ ॥ १०७ ॥

शब्दार्थ—हइ—है। सकृत—एक बार। बिछोहइ—विलग हो जाता है।

अर्थ—विश्वामित्र मुनि ने हँसकर उत्तर दिया—"हे जनकजी! यह वह मूर्ति है जिसका एक बार स्मरण करने से मोहरूपी सारा मैल दूर हो जाता है।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'स' और 'म' का छेकानुप्रास है।

सब मल-बिछोहनि जानि मूरति जनक कौतुक देखहू।
धनुसिंधु नृप-बल-जल बढ़्यो रघुबरहि कुंभज लेखहू॥"
मुनि सकुचि सोचहिं जनक गुरुपद बंदि रघुनंदन चले।
नहिं हरष हृदय विषाद कछु भये सगुन सुभ मंगल भले॥१०८

शब्दार्थ—कौतुक—खेल, तमाशा। जल—पानी। कुंभज—घड़े से उत्पन्न होनेवाले अगस्त्य मुनि। (किसी समय समुद्र की लहरें एक टिटिहरी के अंडों को बहा ले गईं। तब टिटिहरियों ने चोंचों से मिट्टी ला लाकर समुद्र को पाटना प्रारंभ किया। इसी समय अगस्त्य मुनि ने वहाँ से निकलते हुए यह सब देखा। दूसरे समय, जब वे सूर्योन्मुख होकर अर्घ्य दे रहे थे, समुद्र की लहरें उनकी पूजा की सारी सामग्री बहा ले गईं। इससे समुद्र के अत्याचारों पर खिन्न होकर अगस्त्यजी ने अपने तीन आचमनों में सारे समुद्र के जल को पी डाला; फिर देवताओं के प्रार्थना करने पर लघुशंका के रूप में खारी जल निकाल दिया। इस प्रकार उन्होंने समुद्र तथा उसकी लहरों का गर्व नष्ट किया। लेखहू—समझो। विषाद—दुःख।

अर्थ—हे जनकजी! इस मूर्ति को सब प्रकार की मलिनता दूर करनेवाली जानकर (तनिक) कौतुक देखिए। धनुष-रूपी समुद्र में राजाओं के बढ़े हुए शक्ति-रूपी जल (ज्वार) का गर्व शमन करने के लिये इन्हें अगस्त्य मुनि जानिए।" यह

टिप्पणी—इस पद में चार क्रियाएँ और उनके पृथक् पृथक् कर्ता है।

महि महिधरनि लषन कह बलहि बढ़ावन।

राम चहत सिवचापहि चपरि चढ़ावन ॥ ११० ॥

शब्दार्थ—महि—पृथ्वी। महिधरनि—पृथ्वी के धारण करनेवालों (शेषनाग, दिग्गज आदि) से। चापहि—शिव-धनुष को। चपरि—शीघ्र।

अर्थ—(इसी समय) लक्ष्मणजी ने पृथ्वी, शेषनाग, कच्छप और दिग्गजों से बल बढ़ाने (अर्थात् दृढ़ता के साथ पृथ्वी धारण करने) को कहा; क्योंकि श्रीरामचंद्र शीघ्र ही बलपूर्वक शिव-धनुष को चढ़ानेवाले हैं।

टिप्पणी—(१) मिलाइए—

"लषन कह्यो थिर होहु धरनिधरु धरनि, धरनिधर आज" ॥

(गीतावली)

'मानस' में यही विषय बहुत भले प्रकार लिखित है—

"दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥

राम चहहिं संकर-धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा" ॥

('मानस')

गये सुभाय राम जब चाप समीपहि।

सोच सहित परिवार बिदेह महीपहि ॥ १११ ॥

शब्दार्थ—सुभाय—स्वाभाविक रीति से (हृदय में बिना किसी प्रकार का भाव उठे)।

अर्थ—जिस समय रामचंद्रजी सहज भाव से धनुष के पास गए उस समय अपने परिवार के सहित राजा जनक सोच में पड़ गए।

टिप्पणी—'सोच सहित' में छेकानुप्रास अलंकार है।

कहि न सकति कछु सकुचनि, सिय हिय सोचइ।
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥ ११२॥

शब्दार्थ—सकुचनि—संकोच के कारण। सकोचइ—दबाव डालती है।

अर्थ—संकोच के कारण सीताजी कुछ कह नहीं सकतीं। वे मन ही मन सोचती हैं और गौरी (पार्वतीजी), शिवजी तथा गणेशजी का स्मरण करके उन पर दबाव डालती हैं (अपनी सेवाओं आदि के उल्लेख से उन देवों की कृतज्ञता चाहती हैं)।

टिप्पणी—'मानस' में यही भाव इस प्रकार अभिव्यक्त है—

"..........................। होउ प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सुफल आपन सेवकाई। करि हित हरहु चापगरुआई॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हेउँ तव सेवा॥
बार बार सुनि बिनती मोरी। करहु चापगरुता अति थोरी"॥

('मानस')

होति बिरह-सर-मगन देखि रघुनाथहिं।
फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं॥ ११३॥

शब्दार्थ—फरकि—फड़ककर, कंपित होकर। बाम भुज नयन—बायाँ हाथ तथा नेत्र। यह स्त्रियों के लिये शुभ शकुन का सूचक है। देहिं जनु हाथहिं—मानों सहारा देते हैं।

अर्थ—रामचंद्रजी को देखकर सीताजी विरह-रूपी तालाब में डुबकियाँ लेने लगीं। इसी समय उनके बायें हाथ और नेत्र फड़ककर उन्हें सहारा सा देने लगे।

टिप्पणी—उक्त छंद में रूपक, क्रियोत्प्रेक्षा और लोकोक्ति अलंकार हैं।

धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिंन।
बर किसोर धनु घोर दइउ नहिं दाहिन ॥११४॥

शब्दार्थ—घोर—कठोर। दइउ—दैव भी, ब्रह्मा भी। दाहिन—दाहिना, अनुकूल।

अर्थ—(सीताजी) शकुन के आधार पर हृदय में धैर्य धारण करती हैं; किंतु धैर्य रहता ही नहीं। (यह ध्यान आ ही जाता है कि) ब्रह्मा भी अनुकूल नहीं (कि प्रण से राजा को प्रीति कम करावे) और धनुष इतना कठोर है तथा रामचंद्रजी (अभी) किशोर (अर्थात् छोटी आयु के कुमार) हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'ध' का छेकानुप्रास है।

अंतरजामी राम मरम सब जानेउ।
धनु चढ़ाइ कौतुकहिं कान लगि तानेउ ॥११५॥

शब्दार्थ—अंतरजामी (अंतः = हृदय + यामी = जाननेवाला)—हृदय को जान लेनेवाले। मरम—भेद, रहस्य।

अर्थ—अंतर्यामी रामचंद्रजी ने हृदय की सब बातें जान लीं और धनुष को खेल में ही कान तक तान दिया।

टिप्पणी—'मरम' का यह अर्थ भी हो सकता है कि उन्होंने धनुष चढ़ाने के सब रहस्य जान लिए हों जिसमें सुविधा के साथ धनुष चढ़ा सकें और फिर कौतुक में ही (अनायास ही) धनुष को कानों तक खींच दिया हो।

प्रेम परखि रघुबीर सरासन भंजेउ।
जनु मृगराज-किसोर महा गज गंजेउ ॥११६॥

शब्दार्थ—परखि—परीक्षा करके। सरासन—धनुष। मृगराज—सिंह। महा गज—बड़ा हाथी। गंजेउ—मारा।

अर्थ—सीताजी के प्रेम को परखकर रामचंद्रजी ने धनुष को ऐसे तोड़ा मानों सिंह के बच्चे ने किसी बड़े हाथी को (जो देखने में अदम्य प्रतीत होता है) मारा हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

गंजेउ सो गर्जेउ घोर धुनि सुनि भूमि भूधर लरखरे।
रघुबीर जस-मुकुता बिपुल सब भुवन पटु पेटक भरे॥
हित मुदित, अनहित रुदित मुख, छबि कहत कबि धनुजाग की।
जनु भोर चक्क चकोर कैरव सघन कमल तड़ाग की ॥११७॥

शब्दार्थ—भूधर—पृथ्वी को धारण करनेवाले (शेष, दिग्गज आदि)। लरखरे—लड़खड़ा गए। बिपुल—बहुत। पटु—(१) चतुर; (२) पट। पेटक—(१) पिटारा; (२) फेंट, कमरबंद। हित—हितू, हितैषी। अनहित—विरोधी। रुदित—रुलासा। धनुजाग—धनुषयज्ञ। भोर—प्रातःकाल। चक्क—चक्रवाक, चकवा-चकई। (कहा जाता है कि ये खग-दंपति रात में एक साथ नहीं रह सकते।) कैरव—कुमुद। सघन—घना। तड़ाग—तालाब।

अर्थ—जैसे सिंह के प्रहार से वह महागज गरजा हो वैसे ही धनुष टूटने पर घोर शब्द हुआ जिसे सुनकर पृथ्वी, पृथ्वी को धारण करनेवाले शेष, कच्छप, वराह और दिग्गज आदि दहल गए। रामचंद्रजी के यश-रूपी मोती को, जो उस हाथी के मरने से (अर्थात् धनुष टूटने से) मिला, सारे संसार के

चतुर पुरुषों (भक्तों) ने पिटारों में भरा। कवि धनुषयज्ञ की शोभा कहते हैं कि जैसे प्रातःकाल सूर्य के उदय से चक्रवाक और कमल प्रसन्न होते हैं तथा चकोर और कुमुद मलिन होते हैं उसी प्रकार हितैषी लोग प्रसन्न हुए तथा विरोधी मुरझा गए (अर्थात् उन्होंने रोनी सूरत बना ली)।

टिप्पणी—(१) इस छंद में रूपक, वस्तूत्प्रेक्षा और क्रम अलंकार हैं।

(२) उक्त वर्णन 'मानस' में इस प्रकार है—

"भरे भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले"॥

इस छंद की स्थानापन्न कविता कवितावली में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। नीचे दिए हुए छप्पय में भी उक्त भाव ही आधार-भूत है—

"डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरबिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो"॥

नभ पुर मंगल गान निसान गहागहे।
देखि मनोरथ सुरतरु ललित लहालहे॥११८॥

शब्दार्थ—लहालहे—लहलहे, हरेभरे।

अर्थ—आकाश और नगर सब कहीं मंगल गान और बाजों का गहगहा शब्द (अर्थात् शोर) होने लगा। जिस प्रकार कल्प-

वृक्ष को देखकर मनोरथ लहलहा उठता है उसी प्रकार सकुटुंब जनक प्रफुल्लित हैं।

टिप्पणी—अंतिम पद में 'ल' का अनुप्रास है।

तब उपरोहित कहेउ, सखी सब गावत।
चलीं लेवाइ जानकिहि भा मनभावत॥११९॥

शब्दार्थ—उपरोहित—पुरोहित, कुलगुरु। मनभावत—इच्छित।

अर्थ—तब कुलगुरु (शतानंदजी) ने जयमाल पहनाने के लिये कहा। जानकीजी को लेकर सब सखियाँ गाती हुई चलीं। मनचाहा ही हुआ। (उन सबकी इच्छा थी कि राम के समान वर मिले और वे मंगल गावें; वही हुआ।)

टिप्पणी—पहले पद में 'स' का छेकानुप्रास है।

कर-कमलनि जयमाल जानकी सोहइ।
बरनि सकै छबि अतुलित अस कबि को हइ?॥१२०॥

शब्दार्थ—जयमाल—विजय पाने पर पहनाई जानेवाली माला। अतुलित—जिसकी तुलना या समता न हो सके।

अर्थ—श्री जानकीजी के कमल (के समान कोमल) हाथों में जयमाल शोभित है। ऐसा कौन कवि है जो इस अनुपमेय सौंदर्य का वर्णन कर सके।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में 'क' और 'ज' का अनुप्रास है।

सीय सनेह-सकुच-बस पिय तन हेरइ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ॥१२१॥

शब्दार्थ—पिय—प्रिय, प्रीतम। तन—ओर। हेरइ—देखती है। रुख—ओर। पवन—हवा।

अर्थ—स्नेह और संकोच के वश होकर सीताजी प्रिय रामचंद्रजी की ओर देखती हैं, मानों वायु ने कल्पलता को कल्पवृक्ष की ओर प्रेरित कर दिया हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में वायु और स्नेह तथा संकोच की समता प्रकट की गई है। यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

लसत ललित करकमल माल पहिरावत।
कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत ॥१२२॥

शब्दार्थ—लसत—शोभित होता है। कामफंद—काम का फंदा। बनज (वन = जल + ज = उत्पन्न होनेवाला)—कमल।

अर्थ—सुंदर कमल-रूपी हाथों से श्रीरामचंद्र को माला पहनाते समय ऐसी शोभा हो रही है, मानों कमल कामदेव के फाँस से चंद्रमा को फँदा रहा है।

टिप्पणी—उक्त छंद में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। यह छंद 'मानस' में इस प्रकार है—

"सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला" ॥

किंतु इस ग्रंथ के उपर्युक्त छंद में 'कामफंद' कमल की नाल से कहीं अधिक आकर्षक है।

राम-सीय-छबि निरुपम, निरुपम सो दिनु।
सुखसमाज लखि रानिन्ह आनँद छिनु छिनु ॥१२३॥

शब्दार्थ—निरुपम—जिसकी उपमा न मिल सके।

अर्थ—रामचंद्रजी तथा सीताजी की शोभा अनुपम है और वह दिन भी अनुपम है (जब कि सीताजी ने भगवान् रामचंद्र

को अपना वर चुना)। इस प्रकार के सुख के समाज को देख-कर रानियाँ प्रतिक्षण आनंद में डूब रही हैं।

टिप्पणी—'छिनु' 'छिनु' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

प्रभुहि माल पहिराइ जानकिहि लै चली।
सखी मनहुँ बिधु-उदय मुदित कैरव-कली ॥१२४॥

शब्दार्थ—बिधु-उदय मुदित कैरव-कली—चंद्रमा के उदय होने पर कुमुदिनी प्रफुल्लित हो उठती है।

अर्थ—श्रीरामचंद्र को जयमाल पहना चुकने पर जानकीजी को सखियाँ (प्रसन्नता के साथ) ले चलीं; मानों चंद्रमा के उदय से कुमुदिनियाँ प्रफुल्लित हुई हों।

टिप्पणी—उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

बरषहिं बिबुध प्रसून हरषि कहि जय जय।
सुख सनेह भरे भुवन राम गुरु पहिं गय ॥१२५॥

शब्दार्थ—बिबुध—देवता। प्रसून—फूल। भुवन—लोक। गय—गए।

अर्थ—प्रसन्नता से जय जय कहते हुए देवता लोग फूल बरसाने लगे। सुख और स्नेह से संसार भर गया। रामचंद्रजी गुरु विश्वामित्रजी के पास गए।

टिप्पणी—'जय', 'जय' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

गये राम गुरु पहिं, राउ रानी नारि नर आनँद भरे।
जनु तृषित करि-करिनी-निकर सीतल सुधासागर परे ॥
कौसिकहि पूजि प्रसंसि आयसु पाइ नृप सुख पायऊ।
लिखि लगन तिलक समाज सजि कुलगुरुहि अवध पठायऊ

शब्दार्थ—तृषित—प्यासा। करि—हाथी। करिनी—हथिनी। निकर—समूह। तिलक—टीका, फलदान, विवाह-संबंध स्थिर करने तथा संस्कार-प्रारंभ की एक रस्म।

अर्थ—श्रीरामचंद्र गुरु के पास गए। राजा जनक, रानी तथा नगरनिवासी स्त्री-पुरुष आनंद में ऐसे फूल गए मानों प्यासे हाथियों और हथिनियों के झुंड शीतल अमृत-सागर में घुस गए हों। राजा ने विश्वामित्र की पूजा और प्रशंसा की और उनकी आज्ञा पाकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए लगन लिखकर तिलक के साथ कुलगुरु (शतानंद) को समाज के साथ अयोध्या भेजा।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

गुनि गन बोलि कहेउ नृप माँड़व छावन।
गावहिं गीत सुवासिनि, बाज बधावन॥ १२७॥

शब्दार्थ—गुनि—गुणी, चतुर। गन—लोग। माँडव—मँड़वा, मंडप। सुवासिनि—सोहागिन, विवाहिता स्त्रियाँ। बधावन—बधाई (बजाने की प्रणाली विशेष)।

अर्थ—चतुर लोगों को बुलाकर राजा ने मंडप छाने को कहा। सोहागिन स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं और बधाई बजती है।

टिप्पणी—दोनों पंक्तियों में 'ग' का छेकानुप्रास है।

सीय-राम-हित पूजहिं गौरि गनेसहि।
परिजन पुरजन सहित प्रमोद नरेसहि॥ १२८॥

शब्दार्थ—हित—कल्याण (के लिये)। प्रमोद—आनंद।

अर्थ—सीता तथा राम के कल्याण के लिये गणेश और पार्वती की पूजा करते हैं और राजा तथा उनके कुटुंबी और नगरनिवासी प्रसन्न हैं।

टिप्पणी—'परिजन', 'पुरजन' में 'प' का छेकानुप्रास तथा 'जन' का सभंगपद लाटानुप्रास अलंकार है।

प्रथम हरदि बेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुलरीति, कलस थपि तेलु चढ़ावहिं ॥१२९॥

शब्दार्थ—हरदि—हरिद्रा, हल्दी। बेदन—छाप, वंदन लगाना। मंडप का खंभ गाड़ते समय आए हुए लोगों की पीठ पर हल्दी और पिसे हुए चावलों का लेपन, हथेली में लपेटकर, लगाया जाता है। यह रस्म "हरिद्रा-वंदन" कहलाती है। (हल्दी मांगलिक वस्तु है।) कलस थपि—मंगल-कलश की स्थापना करके। यह भी उसी दिन की एक रस्म है। यह कलश गणेश-पूजन के निमित्त रखा जाता है। तेलु चढ़ावहिं—तेल दान करते हैं। यह भी एक रस्म है। कन्या अथवा वर के अंगों में तैल-स्पर्श कराके उन्हीं कन्याओं को सिर में लगाने के लिये तैल दिया जाता है।

अर्थ—हल्दी चढ़ाने के बाद स्त्रियाँ मंगल-गान करती हैं और कुल की रीतियाँ करके कलश की स्थापना कराती तथा तैलदान की क्रिया करती हैं।

टिप्पणी—तैल एक अमांगलिक वस्तु है किंतु इसकी अमंगलता के नाश के लिये यह रस्म प्रचलित है।

गे मुनि अवध, बिलोकि सुसरित नहायउ।
सतानंद सत-कोटि-नाम-फल पायउ ॥ १३० ॥

शब्दार्थ—सुसरित—सुंदर नदी, सरयू।

अर्थ—शतानंद मुनि अयोध्या गए और वहाँ सरयू-दर्शन करके उसमें स्नान किया। इससे शतानंद (शत+आनंद=

सौ आनंद) ने अपने नाम का सौ करोड़ गुना फल पाया। अर्थात् वे बड़े प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में परिकरांकुर अलंकार है।

नृप सुनि आगे आइ पूजि सनमानेउ।
दीन्हि लगन कहि कुसल राउ हरषानेउ ॥१३१॥

शब्दार्थ—नृप—राजा दशरथ। हरषानेउ—प्रसन्न हुए।

अर्थ—राजा ने (जनक के दूतों का आगमन) सुनकर, आगे आकर, स्वागत कर आदर-सत्कार किया। शतानंद मुनि ने सब कुशल-संवाद सुनाकर लग्न-पत्रिका दी जिससे राजा दशरथ प्रसन्न हो गए।

टिप्पणी—'दीन्हि' क्रिया का कर्त्ता 'शतानंद' अध्याहृत है।

सुनि पुर भयउ अनंद बधाव बजावहिं।
सजहिं सुमंगल-कलस बितान बनावहिं ॥१३२॥

शब्दार्थ—बितान—चँदोवा।

अर्थ—रामचंद्रजी के विवाह का संवाद सुनकर नगर में आनंद छा गया और बधाइयाँ बजने लगीं। सब लोग मंगल-कलश सजाने और चँदोवे बनाने लगे।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'स' और 'ब' का छेकानुप्रास है।

राउ छाँड़ि सब काज साज सब साजहिं।
चलेउ बरात बनाइ पूजि गनराजहिं ॥१३३॥

शब्दार्थ—गनराजहिं—गणेशजी को। (हिंदुओं की धारणा है कि गणेशजी के पूजन से विघ्नों का नाश हो जाता है)।

अर्थ—राजा दशरथजी सब काम छोड़कर बारात का साज सजाने लगे। वे गणेश-पूजन करके बारात साजकर चले।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में 'ग' और दूसरी में 'ब' तथा 'ज' के अनुप्रास हैं।

बाजहिं ढोल निसान सगुन सुभ पाइन्हि।
सियनैहर जनकौर नगर नियराइन्हि ॥१३४॥

शब्दार्थ—नैहर—मायका। जनकौर—जनक के। नियराइन्हि—पास पहुँचे।

अर्थ—ढोल और नगाड़े बज रहे हैं। शुभ शकुन मिल रहे हैं। राजा सीताजी के मायके, जनक के नगर, के पास आ गए।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति का 'जनकौर' शब्द द्रष्टव्य है।

नियरानि नगर बरात हरषी लेन अगवानी गये।
देखत परस्पर मिलत, मानत, प्रेमपरिपूरन भये॥
आनंद पुर कौतुक कोलाहल बनत सो बरनत कहाँ।
लै दियो तहँ जनवास सकल सुपास नित नूतन जहाँ॥१३५॥

शब्दार्थ—अगवानी—आगे बढ़कर लेना। सुपास—आराम, सुविधा। नित—नित्य, प्रतिदिन। नूतन—नया।

अर्थ—जब नगर के पास बारात पहुँची तब जनक की तरफ़ के लोग प्रसन्न होकर बरात की अगवानी (स्वागत की रस्म) करने गए। परस्पर मिलते हैं, देखते हैं और सम्मान करते हैं। सब प्रेम में भर गये। नगरी में जो आनंद और कौतुक का कोलाहल हो रहा है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? जनकजी ने बरातियों को वहाँ जनवासा दिया जहाँ

प्रतिदिन के लिये नए नए सब प्रकार के सुभीते कर दिए गए थे।

टिप्पणी—इस छंद में बहुत सी बातें संक्षेप में कहकर कथा आगे बढ़ाई गई है।

गे जनवासहि कौसिक रामलषन लिये।
हरषे निरखि बरात प्रेम प्रमुदित हिये॥ १३६॥

शब्दार्थ—निरखि—देखकर।

अर्थ—विश्वामित्रजी राम-लक्ष्मण को लेकर जनवासे गए और बरात देखकर प्रसन्न हुए। उनका हृदय प्रेम से पुलकित हो गया।

टिप्पणी—अंतिम पद में 'प' का अनुप्रास है।

हृदय लाइ लिये गोद मोद अति भूपहि।
कहि न सकहिं सत सेष अनंद अनूपहि॥ १३७॥

शब्दार्थ—मोद—हर्ष, प्रसन्नता।

अर्थ—राजा ने (श्रीरामचंद्र तथा लक्ष्मण को प्रीति से) हृदय लगाया और गोद में ले लिया। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। इस अपूर्व आनंद को (सहस्र मुखवाले) सैकड़ों शेषनाग भी प्रकट नहीं कर सकते।

टिप्पणी—इस छंद में 'ल', 'द', 'स' और 'अ' का अनुप्रास है।

राय कौसकहि पूजि दान बिप्रन्ह दिये।
राम-सुमंगल हेतु सकल मंगल किये॥ १३८॥

शब्दार्थ—राय—राव, राजा। बिप्रन्ह—ब्राह्मणों को।

अर्थ—दशरथजी ने विश्वामित्र की अर्चना करके (पुत्रों के प्राप्त होने की प्रसन्नता में) ब्राह्मणों को दान दिए। इस प्रकार श्रीरामचंद्र के कल्याण के लिये उन्होंने सारे मांगलिक कार्य किए।

टिप्पणी—वर के मंगल के लिए दान देना ठीक ही है।

ब्याह-बिभूषन-भूषित भूषन-भूषन।
बिस्वबिलोचन, बनजबिकासक पूषन॥ १३९॥

शब्दार्थ—ब्याह-बिभूषन—ब्याह के गहने (कंकण आदि)। भूषित—पहने हुए। भूषन-भूषन—गहनों को भी अलंकृत करनेवाले गहने। (भाव यह कि वे स्वयं गहनों से अधिक सुंदर थे।) बिस्वबिलोचन—संसार के नेत्र। बनज—कमल। बिकासक—प्रफुल्ल करनेवाले। पूषन (पूषण)—सूर्य।

अर्थ—भूषणों के भूषण श्रीरामचंद्र ब्याह के आभूषणों से भूषित हैं। वे विश्व के कमल-नेत्रों को विकसित करनेवाले सूर्य हैं।

टिप्पणी—इस छंद में रूपक अलंकार तथा 'भ', 'ष', और 'ब' का अनुप्रास है।

मध्य बरात बिराजत अति अनुकूलेउ।
मनहुँ काम-आराम कल्पतरु फूलेउ॥ १४०॥

शब्दार्थ—अनुकूलेउ—प्रसन्न हुए। काम-आराम—कामदेव का उद्यान।

अर्थ—बारात के बीच में वे अत्यंत सुप्रसन्न ऐसे विराजमान थे मानों कामदेव के (वसंतयुक्त) बाग में कल्प-वृक्ष फूला हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

पठई भेंट बिदेह बहुत बहु भाँतिन्ह।
देखत देव सिहाहिं अनंद बरातिन्ह ॥ १४१ ॥

शब्दार्थ—बहु भाँतिन्ह—अनेक प्रकार की। सिहाहिं—ईर्ष्या करते हैं।

अर्थ—जनक ने अनेक प्रकार की बहुत सी (वस्तुओं से युक्त) भेंट भेजी जिसे देखकर देवता भी (पाने की) ईर्ष्या करते हैं और बाराती प्रसन्न होते हैं।

टिप्पणी—इस छंद में तीन क्रियाएँ हैं जो एक ही भाव के अंतर्गत हैं।

बेदबिहित कुलरीति कीन्हि दुहुँ कुलगुर।
पठई बोलि बरात जनक प्रमुदित उर ॥ १४२ ॥

शब्दार्थ—बेदबिहित—वेदोक्त। दुहुँ—दोनों।

अर्थ—दोनों पक्षों के पुरोहितों ने वेद-कथित तथा परंपरा-प्रचलित सभी रीतियाँ कीं। (इसके पश्चात्) जनकजी ने प्रसन्न-हृदय होकर बारात को बुला भेजा।

टिप्पणी—इस छंद में 'ब' और 'क' का अनुप्रास है।

जाइ कहेउ "पगु धारिय" मुनि अवधेसहि।
चले सुमिरि गुरु गौरि गिरीस गनेसहि ॥ १४३ ॥

शब्दार्थ—पगु धारिय—पधारिए, चलिए। गिरीस—शंकरजी।

अर्थ—(दूतों ने) जाकर विश्वामित्र और दशरथ से कहा—"पधारिए (जनक-गृह में पदार्पण कीजिए)।" यह सुनकर राजा दशरथ गुरु, पार्वतीजी, शंकरजी तथा गणेशजी का स्मरण करके चले।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में 'ग' का वृत्त्यनुप्रास है।

चले सुमिरि गुरु सुर सुमन बरषहिं, परे बहु बिधि पाँवड़े।
सनमानि सब बिधि जनक दसरथ किये प्रेम कनावड़े॥
गुन सकल सम समधी परस्पर मिलत अति आनँद लहे।
जय धन्य जय जय धन्य धन्य बिलोकि सुर नर मुनि कहे १४४

शब्दार्थ—पाँवड़े—पायंदाज, पापोश, पैर के नीचे बिछाने का खुरदरा वस्त्र। कनावड़े—आभारी। सम—समान। समधी—संबंधी, वर तथा कन्या के पिता।

अर्थ—गुरु का स्मरण करके दशरथजी चले। उस समय देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की। अनेक प्रकार के पायंदाज पड़े हुए हैं। राजा जनक ने दशरथ का सब प्रकार से सम्मान किया और उन्हें अपने प्रेम का ऋणी बना लिया। दोनों समधी समान गुणवाले हैं। मिलकर उन्होंने बड़ा आनद प्राप्त किया। उनका मिलन देखकर देवताओं, मुनियों और मनुष्यों ने जय जय, धन्य धन्य का शब्द किया।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में 'जय' तथा 'धन्य' की आवृत्ति है।

तीनि लोक अवलोकहिं नहिं उपमा कोउ।
दसरथ जनक समान जनक दसरथ दोउ॥१४५॥

शब्दार्थ—अवलोकहिं—देखते हैं, खोजते हैं।

अर्थ—तीनों लोकों में देखने पर भी कोई उपमा महाराज जनक तथा दशरथजी के योग्य नहीं मिली। केवल यही उपमा है कि राजा जनक और राजा दशरथ अपने समान आप ही हैं।

टिप्पणी—(१) उक्त छंद में अनन्वय अलंकार है।

(२) 'मानस' में इसी प्रकार है—

" .. .. । उपमा खोजि खोजि कबि लाजे ॥
लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी ॥"

सजहिं सुमंगल साज रहस रनिवासहिं।
गान करहिं पिकबैनि सहित परिहासहिं ॥१४६॥

शब्दार्थ—रहस—हर्ष, आनंद, केलि। रनिवासहिं (रानी + आवास) —महल, अंतःपुर। पिकबैनि—कोयल के सदृश मृदु स्वरवाली, कोकिल-कंठी। परिहास—व्यंग्य।

अर्थ—रानियाँ मंगल-वस्तुएँ एकत्र करती हैं। अंतः-पुर में आनंद हो रहा है। कोयल के समान मधुर आलाप करनेवाली स्त्रियाँ व्यंग्य के साथ गीत गाती हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'स' और 'र' की आवृत्ति है।

उमा रमादिक सुरतिय सुनि प्रमुदित भइँ।
कपट नारि-बर-बेष बिरचि मंडप गइँ ॥१४७॥

शब्दार्थ—उमा रमादिक—पार्वती और लक्ष्मी आदि। सुरतिय—देवांगनाएँ।

अर्थ—पार्वती और लक्ष्मी आदि देवांगनाएँ गाना सुन-कर इतनी प्रसन्न हुईं कि सुंदर स्त्रियों का कपट-वेष धारण करके मंडप में गईं।

टिप्पणी—उक्त छंद में स्त्रियों का वेष धारण करने से यह तात्पर्य है कि वे देवियाँ साधारण स्त्रियों का वेष धारण करके गईं। 'मानस' में कहा है—

"सची सारदा रमा भवानी । जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥
कपट-नारि-बर-बेष बनाई । मिलीं सकल रनिवासहिं आई" ॥

मंगल आरति साजि बरहिं परिछन चलीं ।
जनु बिगसीं रवि-उदय कनक-पंकज-कलीं ॥१४८॥

शब्दार्थ—परिछन—द्वार पर वर के आ जाने पर उसकी आरती आदि करने की एक रीति । दे० पार्वती-मंगल की टिप्पणी, छंद १३२ (पृष्ठ १४३) । बिगसीं—विकसित हुईं, खिलीं । कनक-पंकज—सोने का कमल ।

अर्थ—वे मंगल-आरती साजकर वर का परिछन करने के लिये क्या चलीं मानों सूर्य के उदय होने से सोने के कमलों की कलियाँ खिल गई हों । (यहाँ र्य श्रीरामचंद्र तथा कलियाँ सब सखियाँ हैं और कनक उनके गैारवर्ण का सूचक है ।)

टिप्पणी—उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

नख-सिख-सुंदर रामरूप जब देखहिं ।
सब इंद्रिन्ह महँ इंद्र-बिलोचन लेखहिं ॥१४९॥

शब्दार्थ—नख-सिख—पैर के नाखूनों से लेकर सिर की चोटी तक संपूर्ण शरीर । इंद्रिन्ह—अंग । बिलोचन—आँख ।

अर्थ—परिछन करनेवाली स्त्रियाँ जब रामचंद्रजी का नख-शिख-सुंदर रूप देखती हैं तब वे अपनी सभी इंद्रियों में हज़ारों आँखें समझती हैं । (अर्थात् वे सारी इंद्रियों की शक्ति को आँखों में इसलिये केंद्रित कर देती हैं कि जी भरकर रामचंद्रजी का रूप-सौंदर्य देख सकें ।)

परम प्रीति कुलरीति करहिं गजगामिनि।
नहिं अघाहिं अनुराग भाग भरि भामिनि ॥१५०॥

शब्दार्थ—गजगामिनि—हाथी के समान मंद गतिवाली स्त्रियाँ। अघाहिं—संतुष्ट होती हैं। भाग भरि—सौभाग्यवती। भामिनि—स्त्री।

अर्थ—गजगामिनी स्त्रियाँ बड़ी प्रीति के साथ कुल की रीतियाँ करती हैं, वे सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रेम से तृप्त नहीं होतीं (अर्थात् उनके हृदय में प्रेम उमँगता ही आता है)।

टिप्पणी—इस छंद में 'प' 'क' 'ज' 'अ' 'भ' का अनुप्रास है।

नेगचारु कहँ नागरि गहरु लगावहिं।
निरखि निरखि आनंद सुलोचनि पावहिं ॥१५१॥

शब्दार्थ—नेग—विवाह के समय भिन्न भिन्न कृत्यों पर सेवकों आदि को दिया जानेवाला पुरस्कार। नेगचारु—नेग देने की क्रिया। सुलोचनि—सुंदर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ।

अर्थ—चतुर स्त्रियाँ नेगचार में देर लगाती हैं (जिससे देर तक रामचंद्रजी का दर्शन कर सकें)। वे सुंदर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ देख देखकर आनंद लाभ करती हैं।

टिप्पणी—'निरखि', 'निरखि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

करि आरती निछावरि बरहिं निहारहिं।
प्रेममगन प्रमदागन तनु न सम्हारहिं ॥१५२॥

शब्दार्थ—निछावरि—सिर के ऊपर चारों ओर घुमाकर दान किया हुआ द्रव्य। प्रमदागन—युवतियाँ। परिछन आदि कार्यों के समय

युवक-दर्शन होने पर युवतियों में एक विशेष भाव का उदय होता है। इस स्थान पर उन्हें 'प्रमदा' शब्द से संबोधित करना यह प्रकट करता है कि शब्द-भांडार पर तुलसीदासजी का उपयुक्त अधिकार था।

अर्थ—आरती और न्यौछावर के बाद स्त्रियाँ वर को देखती हैं। वे इतनी प्रेमासक्त हैं कि अपने शरीरों को नहीं सँभालतीं। (अर्थात् खुल जाने पर अंगों को छिपाती ही नहीं—उनको लोक-लज्जा का ध्यान जाता रहा)।

टिप्पणी—स्त्रियों के मनोभाव का अच्छा चित्रण उक्त छंद में है।

नहिं तनु सम्हारहिं, छबि निहारहिं निमिषरिपु जनु रन जये
चक्कवै-लोचन रामरूप-सुराज-सुख भोगी भये॥
तब जनक सहित समाज राजहि उचित रुचिरासन दये।
कौसिक वसिष्ठहि पूजि पूजे राउ दै अंबर नये॥१५३॥

शब्दार्थ—निमिष—पलक। रिपु रन जए—शत्रु को हरा दिया। चक्कवै—चक्रवर्ती। सुराज—अच्छा राज्य। रुचिरासन—सुंदर बिछौना। अंबर—वस्त्र।

अर्थ—स्त्रियाँ अपने शरीर नहीं सँभालतीं। वे रामचंद्रजी की छवि को ऐसे देखती हैं मानों नेत्र अपने पलकरूपी शत्रुओं को हराकर रामचंद्रजी के रूप-रूपी साम्राज्य पर चक्रवर्ती राजा बनकर अधिष्ठित हों और सुख भोग रहे हों (अर्थात् पलकें बंद ही नहीं होतीं)। जनकजी ने ससमाज राजा दशरथ को बैठने के लिये बिछौने दिए और वशिष्ठ तथा विश्वामित्र को पूजकर राजा की पूजा नए वस्त्र देकर की।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में वस्तूत्प्रेक्षा तथा दूसरी में रूपक अलंकार है।

देत अरघ रघुबीरहि मंडप लै चलीं।
करहिं सुमंगल गान उमँगि आनँद अलीं ॥१५४॥

शब्दार्थ—अरघ—पृथ्वी पर पानी छिड़ककर मार्ग की शुद्धि करना। अलीं—सखियाँ।

अर्थ—सखियाँ अर्घ्य देकर रामचंद्रजी को मँड़ये के नीचे ले चलीं। वे आनंद की उमंग में मंगल गान करती हैं।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में 'र' और 'ल' का अनुप्रास है।

बर बिराज मंडप महँ बिस्व बिमोहइ।
ऋतु बसंत बन मध्य मदन जनु सोहइ ॥१५५॥

शब्दार्थ—बिस्व विश्व—संसार। मदन—कामदेव।

अर्थ—श्रीरामचंद्र मंडप के नीचे विराजमान होकर संसार के लोगों को मुग्ध कर रहे हैं, मानों वसंत ऋतु में वन में कामदेव शोभायमान हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में वस्तूप्रेक्षा अलंकार है।

कुल-बिवहार, बेदबिधि चाहिय जहँ जस।
उपरोहित दोउ करहिं मुदित मन तहँ तस ॥१५६॥

शब्दार्थ—बिवहार (व्यवहार)—रीति।

अर्थ—दोनों पक्ष के कुलगुरु—वशिष्ठ तथा शतानंद—कुल के व्यवहार तथा वेदोक्त कर्मकांड जहाँ जिस समय जैसा कराना चाहिए वैसा ही प्रसन्नतापूर्वक कर रहे हैं।

टिप्पणी—कुल-व्यवहार से अपने कुल के चलन का तात्पर्य है

बरहि पूजि नृप दीन्ह सुभग सिंहासन।
चलीं दुलहिनिहिं ल्याइ पाइ अनुसासन ॥१५७॥

शब्दार्थ—सुभग—सुंदर। अनुसासन—आज्ञा।

अर्थ—जनकजी ने रामचंद्रजी की पूजा करके उन्हें सुंदर सिंहासन पर बिठाया। आज्ञा पाने पर सखियाँ दुलहिन सीताजी को मंडप के नीचे ले आईं।

टिप्पणी—इस छंद में 'प', 'स', 'ल' का अनुप्रास है।

जुवति-जुत्थ महँ सीय सुभाइ बिराजइ।
उपमा कहत लजाइ भारती भाजइ॥१५८॥

शब्दार्थ—जुवति—युवती स्त्रियाँ। जुत्थ (यूथ)—झुंड। भारती—वाणी, सरस्वती। भाजइ—भागती है।

अर्थ—युवतियों के बीच में सीताजी स्वभाव से ही भली मालूम होती हैं। उपमा न दे सकने पर लज्जित होकर सरस्वती भाग गई।

टिप्पणी—भाव यह कि सीताजी निरुपमेय और वर्णनातीत हैं।

दुलह दुलहिनिन्ह देखि नारि नर हरषहिं।
छिनु छिनु गान निसान सुमन सुर बरषहिं॥१५९॥

शब्दार्थ—निसान—बाजे।

अर्थ—दूलह और दुलहिन को देखकर स्त्री-पुरुष सभी प्रसन्न हो रहे हैं। क्षण क्षण भर के बाद गाने होते और बाजे बजते हैं। देवता फूल बरसाते हैं।

टिप्पणी—'छिनु छिनु' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

लै लै नाउँ सुआसिनि मंगल गावहिं।
कुँवर कुँवरि हित गनपति गौरि पुजावहिं॥१६०॥

शब्दार्थ—लै लै नाउँ—गीतों में पुरुषों के नाम ले लेकर (गालियाँ गाना)।

अर्थ—सोहागिन स्त्रियाँ नाम ले लेकर मंगल-गान करती हैं और वर-कन्या दोनों के कल्याण के लिये उनसे पार्वती तथा गणेशजी का पूजन करवाती हैं।

टिप्पणी—'लै, लै' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्यादान बिधान संकलप कीन्हेउ॥ १६१ ॥

शब्दार्थ—अगिनि थापि—(हवन तथा विवाह-कार्य में, साक्षी करने के लिये,) अग्नि की स्थापना करके। कुसोदक—कुश और जल। दान करते समय इन दोनों वस्तुओं को हाथ में लेकर संकल्प किया जाता है। बिधान—विधि।

अर्थ—जनकजी ने अग्नि की स्थापना करके हाथ में कुश और जल लिया और कन्यादान की विधि से संकल्प किया।

टिप्पणी—इस छंद में संक्षेप से कन्यादान की चर्चा की गई है।

संकल्पि सिय रामहिं समर्पी सील सुख सोभामई।
जिमि संकरहि गिरिराज गिरिजा, हरिहि श्री सागर दई।
सिंदूरबंदन होम लावा होन लागीं भाँवरी।
सिलपोहनी करि मोहनी मन हर्यौ मूरति साँवरी॥१६२॥

शब्दार्थ—समर्पी—समर्पित कर दी। सील (शील)—चरित्र। सोभामई—सुंदर। सिंदूरबंदन—वधू की माँग में सिंदूर भरने की रीति। लावा—खीलदान (जिसे कन्या का भाई करता है)। भाँवरी—फेरे। सिलपोहनी—विवाह की एक रीति जिसमें कन्या तथा र अपने को पूर्ण-तया कपड़े से ढककर सिल पर ऐपन आदि मांगलिक पदार्थ बाँटते हैं।

अर्थ—जनकजी ने संकल्प करके चरित्रवती और आनंद तथा शोभा से परिपूर्ण जानकी को श्रीरामचंद्र को वैसेही समर्पित कर दिया जैसे हिमालय ने पार्वती को शंकरजी के और सागर ने लक्ष्मी को हरि के हाथ सौंपा था। तत्पश्चात् सिंदूरवंदन, हवन और खीलदान के उपरांत भौंरी होने लगी। मुग्ध कर लेनेवाली सिलपोहनी क्रिया करके श्रीरामचंद्र ने सब का हृदय हर लिया।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है—

"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्त्र कल कीरति नई" ॥
('मानस')

× × × ×

लावा होम बिधान बहुरि भाँवरि परी। ('पार्वती-मंगल')

यहि बिधि भयो बिबाह उछाह तिहूँ पुर।
देहिं असीस मुनीस सुमन बरषहिं सुर ॥ १६३ ॥

शब्दार्थ—तिहूँ पुर—त्रिलोकी में।

अर्थ—इस प्रकार विवाह हो गया। तीनों लोकों में उत्सव मनाया गया। मुनि लोग आशीर्वाद देते और देवता फूल बरसाते हैं।

टिप्पणी—दूसरे पद में 'ईस' का सभंगपद लाटानुप्रास है।

मनभावत बिधि कीन्ह, मुदित भामिनि भईं।
बर दुलहिनिहि लेवाइ सखी कोहबर गईं ॥ १६४ ॥

शब्दार्थ—कोहबर—वह स्थान जहाँ गृहदेवता की स्थापना होती है। यहाँ वर-कन्या को ले जाकर अन्य स्त्रियाँ परिहास करती हैं।

अर्थ—ब्रह्मा ने सबका मनोरथ पूरा किया। स्त्रियाँ प्रसन्न हुईं और सखियाँ वर-वधू को 'कोहबर' में लिवा ले गईं।

टिप्पणी—इस रस्म से विवाह के सब कृत्य समाप्त हो जाते हैं।

निरखि निछावरि करहिं बसन मनि छिनु छिनु।
जाइ न बरनि बिनोद मोदमय सो दिनु॥ १८५॥

शब्दार्थ—बिनोद—प्रसन्नता।

अर्थ—वर-वधू को देखकर स्त्रियाँ क्षण क्षण में मणियाँ और वस्त्र निछावर करती हैं। उस आनंदमय दिन की खुशी का वर्णन नहीं किया जाता।

टिप्पणी—'छिनु', 'छिनु' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

सियभ्राता के समय भौम तहँ आयउ।
दुरीदुरा करि नेगु सुनात जनायउ॥ १८६॥

शब्दार्थ—सियभ्राता के समय—विवाह में कन्या के भाई द्वारा किए जानेवाले कृत्यों के समय पर। भौम—पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाला, मंगल (सीताजी भूमि से उत्पन्न हुई थीं अतः भौम उनका भाई हुआ)। दुरीदुरा—गुप्त रीति से, छिप छिप कर। सु+नात—सुंदर संबंध।

अर्थ—जब सीताजी के भाई के आने की आवश्यकता हुई तो वहाँ मंगल आ गया। वह छिप छिपकर नेग-चार करता रहा। (यद्यपि वह गुप्त ही रहा तथापि यह संबंध, कि वह सीताजी का भाई है, प्रकट हो गया।)

टिप्पणी—उक्त छंद में वर्णित भाव से यह तो प्रकट होता है कि मंगल द्वारा नेग-चार होते रहे; किंतु कुलगुरुओं ने, बिना भाई की उपस्थिति के, कार्य का मंत्रपाठ क्या सोचकर प्रारंभ किया होगा? तब यही कहना पड़ता है कि भाई की अनुपस्थिति में (टोला, पड़ोस अथवा ज्ञातिवर्ग के) किसी भी व्यक्ति से, जो भाई कहकर पुकारा जा सकता हो, कार्य कराने की परिपाटी के अनुसार स्वयं उद्यत मंगल से कहा होगा। प्राय: ऐसे कल्पित भाई नेग-चार नहीं करते, किंतु मंगल ने जब वह भी किया तब लोगों ने उसे सच्चा भाई भूमि-सुत जाना होगा।

चतुर नारि बर कुँवरिहि रीति सिखावहिं।
देहिं गारि लहकौरि समौ सुख पावहिं ॥१६७॥

शब्दार्थ—कुँवरिहि—कुमारी को। लहकौरि—कोहबर में वर-वधू के एक दूसरे को खिलाने की एक रीति।

अर्थ—चतुर स्त्रियाँ वर और वधू को रस्में सिखाती हैं तथा लहकौरि के समय गालियाँ गाती और सुख प्राप्त करती हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'र' की आवृत्ति है।

जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह।
जीति-हारि-मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह ॥१६८॥

शब्दार्थ—कौतुक—खेल-तमाशा, हँसी-दिल्लगी।

अर्थ—जुआ खेलाते समय चतुर स्त्रियाँ अनेक कौतुक करती हैं। जीत-हार के बहाने सुनयना तथा कौशल्या दोनों रानियों को गालियाँ देती हैं।

टिप्पणी—समधिनों का परिहास इसी प्रकार आजकल भी किया जाता है।

सीयमातु मन मुदित उतारति आरति।
के कहि सकइ अनंद मगन भइ भारति ॥ १६९ ॥

शब्दार्थ—भारति—भारती, सरस्वती।

अर्थ—सीताजी की माता प्रसन्न मन से आरती उतारती हैं (अर्थात् निहारन करती हैं)। उस आनंद को कौन कह सकता है? (जिसे सरस्वती इष्ट हों और प्रसन्न हों परंतु इस समय तो) सरस्वती स्वयं आनंद में मग्न हो गईं।

टिप्पणी—भाव यह है कि वाणी की भी जागरूकता नष्ट हो गई।

जुबति-जूथ रनिबास रहस-बस यहि बिधि।
देखि देखि सिय राम सकल मंगलनिधि ॥ १७० ॥

शब्दार्थ—जुबति-जूथ—युवतियों का समूह। रहस-बस—कौतुक के वश में, अत्यन्त प्रसन्न।

अर्थ—इस प्रकार सब कल्याणों के आगार सीता और राम को देखकर, रानियाँ तथा युवतियाँ अन्तःपुर में अत्यंत प्रसन्न हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'ज' 'स' का अनुप्रास और 'देखि देखि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

मंगलनिधान बिलोकि लोयन-लाह लूटति नागरी।
दइ जनक तीनिहु कुँवरि कुँवर बिबाहि सुनि आनँदभरी॥
कल्यान मो कल्यान पाइ बितान छबि मन मोहई।
सुरधेनु,ससि,सुरमनि सहित मानहुँ कलपतरु सोहई॥ १७१॥

शब्दार्थ—निधान—निधि, भांडार, आगार, कोष। लोयन-लाह (लोचन-लाभ)—नेत्रों से होनेवाला लाभ, दर्शन-सुख। नागरी—चतुर स्त्रियाँ। सुरधेनु—कामधेनु, देवताओं की गाय जो मनवांछित

दूध दे। (मिथिला और कोशल की गायें भी कामधेनु कहलाती हैं क्योंकि उन्हें जब चाहे दुहा जाता है।) ससि—चंद्रमा। सुरमनि—चिंतामणि।

अर्थ—कल्याणधाम श्रीराम के दर्शन से स्त्रियाँ नेत्र-लाभ लूट रही हैं। जनकजी ने तीनों राजकुमारियों को तीनों राजकुमारों के साथ ब्याह दिया। यह सुनकर सभी को आनंद हुआ। मंगल भी मंगलमय हो गया (आज कल्याण को भी कल्याण मिला)। मंडप की छबि मन को मोहती है। मानो कामधेनु, चद्रमा और चिंतामणि को साथ लेकर कल्पतरु शोभित हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

जनक-अनुज-तनया दुइ परम मनोरम।
जेठि भरत कहँ ब्याहि रूप रति सय सम ॥ १७२ ॥

शब्दार्थ—जनक-अनुज-तनया—जनक के छोटे भाई की लड़कियाँ। मनोरम—मन को रमा लेनेवाली। जेठि—बड़ी। सय—शत।

अर्थ—जनकजी के छोटे भाई (कुशध्वज) की दो परम सुंदरी कन्याएँ थीं। (उनमें से) जेठी (मांडवी), जो सैकड़ों रति के समान सुंदर थी, भरत के साथ ब्याह दी।

टिप्पणी—'रति' कामदेव की रूपवती स्त्री का नाम है।

सिय-लघु-भगिनि लषन कहँ रूप उजागरि।
लषन-अनुज श्रुतिकीरति सब-गुन-आगरि ॥ १७३ ॥

शब्दार्थ—भगिनि—बहिन। (सीताजी की सगी छोटी बहिन अर्थात् राजा जनक की छोटी लड़की उर्मिला थी) रूप उजागरि—प्रकाशमान् अथवा प्रसिद्ध स्वरूपा। लषन-अनुज—शत्रुघ्न। गुन-आगरि—अच्छे गुणों की खानि।

अर्थ—सीताजी की अत्यंत सुंदरी बहिन उर्मिला का ब्याह लक्ष्मण के साथ और सर्वगुण-संपन्ना श्रुतिकीर्ति का लक्ष्मण से छोटे शत्रुघ्न के साथ विवाह कर दिया।

टिप्पणी—'मानस' में उक्त छंदों का भाव यों है—

"कुस-केतु-कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब रीति प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥
जानकी-लघु-भगिनि सकल सुंदर सिरोमनि जानि कै।
सो जनक दीन्हीं ब्याहि लषनहिं सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नाम स्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब-गुन-आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि..............................." ॥

रामबिवाह समान ब्याह तीनिउ भये।
जीवनफल, लोचनफल बिधि सब कहँ दये॥१७४॥

शब्दार्थ—बिधि—ब्रह्मा।

अर्थ—श्रीरामचंद्र के विवाह के समान ये तीनों ब्याह हुए। ब्रह्मा ने सबको जीवन का और नेत्रों का फल दिया।

टिप्पणी—'मानस' में प्रथम चरण का भाव इस प्रकार है,—

"जसि रघुबीर ब्याहबिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी" ॥

दाइज भयउ बिबिध बिधि, जाइ न सो गनि।
दासी, दास, बाजि, गज, हेम, बसन, मनि॥१७५॥

शब्दार्थ—दाइज—दहेज, कन्यापक्ष से दिया जानेवाला वर पक्ष को दान। जाइ न सो गनि—वह गिना नहीं जा सकता। बाजि—घोड़ा। हेम—सोना।

अर्थ—दासी, दास, घोड़े, हाथी, सोना, वस्त्र, मणि आदि विविध वस्तुएँ दहेज में दी गईं, जो गिनी नहीं जा सकतीं।

टिप्पणी—'रामायण' में कहा है,—

"कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनकमनि मंडप पूरी॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी"॥

दान मान परमान प्रेम पूरन किये।
समधी सहित बरात बिनय बस करि लिये॥१७६॥

शब्दार्थ—मान—सम्मान। परमान—सीमा, यथार्थ, प्रमाण। पूरन किये—भर दिये।

अर्थ—जनकजी ने दहेज और सम्मान को अत्यन्त प्रेम से पूर्ण किया और ससमाज राजा दशरथ को अपने वश में कर लिया।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है,—

"सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै"।

गे जनवासेहि राउ, संग सुत सुतबहु।
जनु पाये फल चारि सहित साधन चहुँ॥१७७॥

शब्दार्थ—सुतबहु—पुत्रवधू, पतोहू। फल चारि—धर्म अर्थ काम मोक्ष।

अर्थ—महाराज दशरथ अपने पुत्रों तथा पुत्रवधुओं के सहित जनवासे गये, मानों (उन्होंने) चारों साधनों सहित चारों फल पा लिए।

टिप्पणी—(१) 'मानस' में कहा है,—

"मुदित अवधपति सकलसुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महि-पाल-मनि क्रियन्ह सहित फल चारि"॥

(२) इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

चहुँ प्रकार जेंवनार भई बहु भाँतिन्ह ।
भोजन करत अवधपति सहित बरातिन्ह ॥१७८॥

शब्दार्थ—चहुँ प्रकार जेंवनार—चबाकर, चूसकर, पोकर और चाटकर खाए जाने वाले चार प्रकार के व्यंजन ।

अर्थ—बहुत तरह से चार प्रकार की जेवनार हुई । राजा दशरथ अपने बरातियों के सहित भोजन कर रहे हैं ।

टिप्पणी—'मानस' में कहा है—

'पुनि जेवनार भई बहुभाँता । .... ॥

× × × ×

चारि भाँति भोजन बिधि गाई" । .... ॥

देहिं गारि बर नारि नाम लै दुहुँ दिसि ।
जेंवत बढ़ेउ अनंद, सोहावनि सो निसि ॥१७९॥

शब्दार्थ—सोहावनि—अच्छी, भली ।

अर्थ—दोनों पक्षों के लोगों के नाम ले लेकर स्त्रियाँ गाली गाती हैं । भोजन के समय बड़ा आनंद हुआ । वह रात बड़ी सुहावनी कटी ।

टिप्पणी—जेवनार के समय आजकल भी गाली गाई जाती है ।

सो निसि सोहावनि, मधुर गावनि, बाजने बाजहिं भले ।
नृप कियो भोजन पान, पाइ प्रमोद जनवासहि चले ॥
नट भाट मागध सूत जाचक जस प्रतापहि बरनहीं ।
सानंद भूसुर-बृंद मनि गज देत मन करषै नहीं ॥१८०॥

शब्दार्थ—गावनि—गाना । नट—कलाबाजियाँ और नाच दिखानेवाले । भाट—चारण, स्तुति गानेवाले । मागध—राजा के प्रशंसक । सूत-पौराणिक कथाएँ कहनेवाले । सूत, भाट, मागध आदि आजकल

भी बरातों कवित्त आदि के द्वारा प्रशंसा आदि गाते और कुछ धन पाते हैं। जाचक—याचक, मँगता, भिक्षुक। करषै—खिंचता है, संकुचित होता है, हिचकिचाता है।

अर्थ—वह रात बड़ी सुहावनी हुई, मीठे स्वर से गाना हुआ और अच्छे बाजे बजे। राजा ने भोजन किया और फिर पान किया। तत्पश्चात् प्रसन्न होकर राजा जनवासे गए। नट, भाट, मागध, सूत और भिक्षुक आदि राजा के यश और ऐश्वर्य का वर्णन करने लगे। राजा दशरथ प्रसन्नता से ब्राह्मणों को मणि, हाथी आदि देते जा रहे हैं, इसमें उनका मन संकुचित नहीं होता।

टिप्पणी—ऊपर के छंद में भोजन के समय के आनंद का संकेत है।

करि करि बिनय कछुक दिन राखि बरातिन्ह।
जनक कीन्ह पहुनाई अगनित भाँतिन्ह ॥१८१॥

शब्दार्थ—पहुनाई—आतिथ्य।

अर्थ—राजा जनक ने विनती कर करके बरातियों को कुछ दिन रोका और अनेक प्रकार से उनकी पहुनाई की।

टिप्पणी—'करि करि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

'प्रात बरात चलिहि' सुनि भूपतिभामिनि।
परि न बिरह बस नींद, बीति गइ जामिनि ॥१८२॥

शब्दार्थ—भामिनि—स्त्री। परि—पड़ी। जामिनि—रात्रि, रात।

अर्थ—सबेरे बरात जायगी, यह सुनकर राजा जनक की स्त्री को विरह के वश नींद न पड़ी, सारी रात (जागते ही) बीत गई।

टिप्पणी—पुत्री से विलग होने का चित्र है।

खरभर नगर, नारि-नर बिधिहि मनावहिं।
बार बार ससुरारि राम जेहि आवहिं॥ १८३॥

शब्दार्थ—बिधिहि—ब्रह्मा को, जो काल-चक्र का संपादन करता है।

अर्थ—(बरात की बिदाई के समाचार से) नगर भर में खलबली मच गई। स्त्री पुरुष सभी ब्रह्मा को मनाने लगे कि (वह ऐसी घटनाएँ और अंतर्वृत्तियाँ उपस्थित करे कि) रामचंद्रजी बार बार ससुराल आवें (और उन्हें दर्शन प्राप्त हों)।

टिप्पणी—'बार बार' की आवृत्ति है।

सकल चलन के साज जनक साजत भये।
भाइन्ह सहित राम तब भूपभवन गये॥ १८४॥

शब्दार्थ—चलन—प्रस्थान, गमन। भवन—घर।

अर्थ—राजा जनक ने प्रस्थान की सब तैयारियाँ कर दीं, तब भाइयों को लेकर श्रीरामचंद्र जनकजी के घर गये।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है,—

"तेहि अवसर भाइन्ह सहित रामु भानु-कुल-केतु।
चले जनकमंदिर मुदित बिदा करावन हेतु"॥

सासु उतारि आरती करहिं निछावरि।
निरखि निरखि हिय हरषहिं सूरति साँवरि॥ १८५

शब्दार्थ—सासु—वर की माँ वधू की सास और कन्या की माँ वर की सास कहलाती है। सूरति साँवरि—साँवली मूर्ति। (भरत और राम दोनों साँवले थे किंतु इस स्थान पर 'राम' से ही अभिप्राय है क्योंकि 'मानस' में 'देखि राम-छवि अति अनुरागीं' इसी स्थान पर कहा है।)

अर्थ—सासें आरती उतारकर निछावर करती हैं और साँवली मूर्ति वाले रामचंद्रजी को देखकर मन में प्रसन्न होती हैं।

टिप्पणी—'निरखि निरखि' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

माँगेहु बिदा राम तब, सुनि करुना भरी।
परिहरि सकुच सप्रेम पुलकि पायन्ह परी॥१८६॥

शब्दार्थ—माँगेहु बिदा—प्रस्थान करने की आज्ञा माँगी। परिहरि—छोड़कर। सकुच—संकोच, हिचकिचाहट। पुलकि—प्रेम से गद्‌गद होकर।

अर्थ—श्रीरामचंद्र ने तब सासों से बिदा माँगी। यह सुनकर वे करुणा से भर गईं और संकोच छोड़कर (संकोच यह कि यह बालक और हम इनकी माता समान सास होकर पैर पड़ें) प्रेम से पुलकित होकर पैरों पर गिर पड़ीं।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'स' तथा 'प' का अनुप्रास है।

सीय सहित सब सुता सौंपि कर जोरहिं।
बार बार रघुनाथहिं निरखि निहोरहिं॥१८७॥

शब्दार्थ—निहोरहिं—विनती करती हैं, प्रार्थना करती हैं, कृतज्ञता प्रकट करती हैं।

अर्थ—सीताजी को तथा और सभी कन्याओं को समर्पित करके हाथ जोड़ती हैं और बार बार श्रीरामचंद्र की ओर देख देख प्रार्थना करती हैं,—

टिप्पणी—(१) 'मानस' में कहा है—

"करि बिनय सिय रामहिं समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहइ।"

उक्त दृश्य सचमुच ही बड़ा करुणा उत्पन्न करनेवाला होता है।

(२) उक्त छंद में 'स' का अनुप्रास है।

"तात तजिय जनि छोह मया राखबि मन।
अनुचर जानब राउ सहित पुर परिजन॥१८८॥

शब्दार्थ—तात—वत्स, प्यारे। छोह—प्रेम। मया—प्रेम, दया संबंध, अनुग्रह। राखबि—रखिएगा (बुंदेलखंडी)। अनुचर—सेवक।

अर्थ—"प्यारे राम! हमारा छोह न छोड़ देना। हमारे ऊपर अनुग्रह रखिएगा। नगर-निवासियों और कुटुम्ब सहित महाराज को अपना अनुचर जानना।

टिप्पणी—पहली पंक्ति में 'त' का छेकानुप्रास है।

जन जानि करब सनेह, बलि" कहि दीन बचन सुनावहीं।
अति प्रेम बारहिं बार रानी बालकन्हि उर लावहीं॥
सिय चलत पुरजन नारि हय गय बिहँग मृग ब्याकुल भये।
सुनि बिनय सासु प्रबोधि तब रघुबंसमनि पितु पहिं गये१८९

शब्दार्थ—जन—दास, सेवक। बलि—बलैया लेना, निछावर होना। बालकन्हि—राम, लक्ष्मण आदि चारों भाइयों को। उर—छाती। बिहँग—पक्षी। मृग—जंगल के रहनेवाले हिरण आदि। प्रबोधि—समझा कर।

अर्थ—हमें अपने सेवक जानकर स्नेह स्थायी रखिएगा। हम बलैया जाती हैं।" रानियाँ इस प्रकार करुणा-पूर्ण वाक्य कहती और अत्यंत प्रेम से बार बार उन बालकों को छाती से लगाती हैं। सीताजी के जाते समय नगर-निवासी स्त्री-पुरुष, हाथी, घोड़े, पशु, पक्षी, सभी व्याकुल हुए। सासों की विनय सुनकर और उन्हें समझाकर रघुवंशमणि श्रीरामचंद्र राजा दशरथ के पास गये।

टिप्पणी—गोस्वामीजी ने बेटी की बिदा का अच्छा चित्र अंकित किया है।

परेउ निसानहिं घाउ राउ अवधहि चले।
सुरगन बरषहिं सुमन सगुन पावहिं भले॥ १९०॥

शब्दार्थ—परेउ निसानहिं घाउ—नगाड़े बजने लगे।

अर्थ—डंके पर चोट पड़ी। राजा दशरथ अवध को रवाना हुए। देवता पुष्पवर्षा करते हैं। अच्छे अच्छे शकुन मिलते हैं।

टिप्पणी—दूसरी पंक्ति में 'स' का अनुप्रास है।

जनक जानकिहि भेंटि सिखाइ सिखावन।
सहित सचिव गुरु बंधु चले पहुँचावन॥ १९१॥

शब्दार्थ—सिखावन—उपदेश।

अर्थ—जनकजी सीताजी को भेंट कर और उन्हें कुछ शिक्षाएँ देकर, मंत्री, कुलगुरु, और भाई के साथ बरात को पहुँचाने चले।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है—

"बहुबिधि भूप सुता समुझाई।....................॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा"॥

प्रेम पुलकि कह राय "फिरिय अब राजन"।
करत परस्पर बिनय सकल-गुन-भाजन॥ १९२॥

शब्दार्थ—गुन-भाजन—गुणवान्, गुणों के पात्र।

अर्थ—राजा ने प्रेम से पुलकित होकर कहा,—"राजन्! (जनक) अब आप लौटें।" सब गुणों के पात्र दोनों राजा आपस में विनय करते हैं।

टिप्पणी—'मानस' में कहा है—

"फिरिअ महीस दूरि बड़ि आये" ॥

कहेउ जनक कर जोरि "कीन्ह मोहिं आपन।
रघु-कुल-तिलक सदा तुम्ह उथपनथापन ॥ १९३ ॥

शब्दार्थ—कर जोरि—हाथ जोड़कर (बिदा के समय उचित नमस्कार करके)। उथपनथापन—उजड़े हुए को बसानेवाले।

अर्थ—महाराज जनक ने हाथ जोड़कर कहा,—"आपने मुझे अपना लिया। हे रघुकुलतिलक! आप सदा से उजड़े को बसानेवाले हैं।

टिप्पणी—यहाँ रघुकुल-तिलक से राजा दशरथ का तात्पर्य समझना चाहिए।

बिलग न मानब मोर जो बोलि पठायउँ।
प्रभुप्रसाद जस जाति सकल सुख पायउँ" ॥ १९४ ॥

शब्दार्थ—बिलग न मानब—बुरा न मानिएगा। बोलि पठायउँ—बुला भेजा। प्रसाद—कृपा।

अर्थ—मैंने आपको बुला भेजा इसका बुरा न मानिएगा। आपकी प्रसन्नता से मैं यश, जाति तथा सभी सुख पा गया।"

टिप्पणी—(१) भाव यह कि आप कुलीन और यशस्वी हैं, आपके साथ संबंध होने से मैं भी उच्च बन गया। इसी ध्येय को पूरा करने के लिये लोग अपनी कन्याओं के विवाह अपने से अधिक ऊँचे कुलों में करते हैं।

(२) 'मानस' में यही वार्ता निम्न प्रकार से है—

"सनबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये ॥

× × × ×

अपराधु छमिबो बोलि पठये बहुत हैं। ढीठ्यो कई" ।

पुनि बसिष्ठ आदिक मुनि बंदि महीपति।
गहि कौसिक के पायँ कीन्हि बिनती अति ॥१९५॥

शब्दार्थ—बसिष्ठ—ब्रह्मा के पुत्र और रघुकुल के गुरु। गहि—पकड़ कर

अर्थ—फिर राजा (जनक) ने वसिष्ठ आदि मुनियों को प्रणाम किया; ("मुनि-मंडलहिं जनक सिर नावा ।"—'मानस') फिर विश्वामित्रजी के पैर पकड़ कर बड़ी बिनती की। ("गहे जनक कौसिक पद जाई। कीन्ह विनय पुनि पुनि सिर नाई" । — 'मानस')

टिप्पणी—कौशिकजी के प्रति विशेष विनय दिखाना उचित ही है।

भाइन्ह सहित बहोरि बिनव रघुबीरहि ।
गदगद कंठ, नयन जल, उर धरि धीरहि ॥ १९६ ॥

शब्दार्थ—गद्गद—पुलकित, भरा हुआ ।

अर्थ—फिर भाइयों के साथ श्रीरामचंद्र को प्रणाम किया। प्रसन्नता के कारण उनका गला भर गया था और उनकी आँखों में प्रेमाश्रु आ गए थे। बहुत धैर्य धारण करने पर वे किसी प्रकार विनती कर सके।

टिप्पणी—विनती के पद अगले छंद में हैं।

"कृपासिंधु सुखसिंधु सुजान-सिरोमनि ।
तात! समय सुधि करबि छोह छाड़ब जनि" ॥१९७॥

शब्दार्थ—सुजान-सिरोमनि—चतुरों में श्रेष्ठ ।

अर्थ—"हे कृपासागर सुखराशि चतुर-चूड़ामणि श्रीरामचंद्र! समय समय पर मेरा स्मरण करते रहिएगा, प्रेम न छोड़िएगा"।

जनि छोह छाँड़ब बिनय सुनि रघुबीर बहु बिनती करी।
मिलि भेंटि सहित सनेह फिरेउ बिदेह मन धीरज धरी॥
सो समौ कहत न बनत कछु सब भुवन भरि करुना रहे।
तब कीन्ह कोसलपति पयान निसान बाजे गहगहे॥१९८॥

शब्दार्थ—समौ—समय। पयान (प्रयाण)—गमन।

अर्थ—मोह न छोड़िएगा, यह सुनकर श्रीरामचंद्र ने उनकी बड़ी विनय की। प्रेम सहित मिल भेंट कर जनकजी मन में धैर्य धारण करके लौटे। उस समय की दशा कुछ कहते नहीं बनती। सब लोकों में करुणा (नीरवता या उदासी) छा गई। तब दशरथजी ने प्रस्थान किया और खूब बाजे बजे।

टिप्पणी—इस छंद में वियोग का कारुणिक दृश्य अवश्य है; परंतु 'मानस' की भाँति गहरा नहीं है।

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिये।
डाटहिं आँखि देखाइ कोप दारुन किये॥१९९॥

शब्दार्थ—पंथ—मार्ग, रास्ता। भृगुनाथ—भृगुवंशियों के स्वामी परशुराम। (ये जमदग्नि और रेणुका के पुत्र थे। इन्होंने एक बार अपने पिता के कहने से अपनी माता रेणुका का वध कर डाला था और उनके इस कार्य से प्रसन्न हुए पिता ने जब वरदान माँगने को कहा तो संसार को तुच्छ समझते

हुए भी इन्होंने अपनी माता का जीवन माँगा। एक बार सहस्रबाहु नामक राजा ने जमदग्नि को, उनकी कामधेनु पाने के लिये, मार डाला। इससे रेणुका ने २१ बार अपनी छाती पीटी और परशुराम को पुकार पुकार कर क्रंदन किया। इसी समय परशुराम वन से सशस्त्र लौटे तो उनकी माता ने सब दुःख-कथा कह सुनाई। बस, उसी क्षण परशुराम ने क्षत्रियवंश के नाश का बीड़ा उठाया और बीस बार ऐसा किया। इक्कीसवीं बार रामचंद्र का दर्शन हुआ। परशुराम के पास विष्णु का दिया हुआ धनुष था, इसे विष्णु के अवतारी राम ही चढ़ा सकते थे। यह उनके अवतारी होने की परीक्षा के लिये मिला था। राम ने इसे चढ़ा दिया। तब परशुराम ने क्षत्रिय-संहार बंद कर दिया।।)

अर्थ—हाथ में फरसा लिए हुए परशुराम मार्ग में मिले। उन्होंने अत्यंत क्रोध करके, आँख दिखाकर, डाटना आरंभ किया।

राम कीन्ह परितोष रोष रिस परिहरि।
चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि॥२००॥

शब्दार्थ—परितोष—क्रोध की शांति, संतोष। रोष—क्रोध। रिस—अप्रसन्नता, क्रोध। सारंग—धनुष।

अर्थ—श्रीरामचंद्र ने परशुराम को शांत किया। वे क्रोध छोड़कर अपना धनुष रामचंद्र को दे गए और उनके दर्शन से अपने नेत्रों को सफल कर गए।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'र', दूसरी में 'स' तथा 'ल' का अनुप्रास है।

रघुबर-भुज-बल देखि उछाह बरातिन्ह।
मुदित राउ लखि सन्मुख बिधि सब भाँतिन्ह॥२०१॥

शब्दार्थ—सन्मुख—अनुकूल।

अर्थ—श्रीरामचंद्र का बाहुबल देखकर बरातियों को बड़ा हर्ष हुआ। ब्रह्मा को सब प्रकार से अनुकूल जानकर राजा प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—विधि के सम्मुख होने का भाव यह है कि सब कार्य बनते ही चले जायँ।

एहि बिधि ब्याहि सकल सुत जग जस छायउ।
मगलोगनि सुख देत अवधपति आयउ ॥२०२॥

शब्दार्थ—मगलोगनि—मार्ग के लोग।

अर्थ—इस प्रकार सब पुत्रों का विवाह करने से संसार में राजा दशरथ का यश छा गया। वे (जनकपुर से लौटते समय) रास्ते के लोगों को सुख देते आए।

टिप्पणी—मार्ग के लोगों को सुख देने का भाव लोचन-लाभ देने का है।

होहिं सुमंगल सगुन सुमन सुर बरषहिं।
नगर कोलाहल भयउ नारि-नर हरषहिं ॥२०३॥

अर्थ—मंगल के शकुन हो रहे हैं और देवता पुष्पवृष्टि करते हैं। नगर भर में हल्ला हो रहा है; स्त्री, पुरुष सभी प्रसन्न होते हैं।

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में 'स' का अनुप्रास है।

(२) कोलाहल का कारण यह है कि लोगों में दशरथ, पुत्रों और पुत्र-वधुओं को देखने की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई थी।

घाट बाट पुरद्वार बजार बनावहिं।
बीथी सींचि सुगंध सुमंगल गावहिं ॥२०४॥

शब्दार्थ—बाट—मार्ग। पुरद्वार—नगर-कोट का फाटक।

अर्थ—घाट, रास्ते, द्वार, बाज़ार सब सुसज्जित करते हैं; गलियाँ सुगंधि से सींची जाती हैं और स्त्रियाँ मंगल गाती हैं।

टिप्पणी—इस छंद में तथा अगले छंद में अयोध्या में राजा दशरथ के स्वागत की तय्यारियों की चर्चा है।

चौकें पूरैं चारु कलस ध्वज साजहिं।
बिबिध प्रकार गहगहे बाजन बाजहिं॥२०५॥

शब्दार्थ—चौकें—वेदियाँ, आटे की रेखाओं से खींचे हुए चित्र, बेलबूटे।

अर्थ—सुंदर चौक पूरते, उसपर कलश स्थापन करते तथा ध्वजा सजाते हैं। अनेक प्रकार के गहगहे बाजे बजते हैं।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'च' और दूसरी में 'ब' तथा 'ग' का अनुप्रास है।

बंदनवार बितान पताका घर घर।
रोपैं सफल सपल्लव मंगल तरुवर॥ २०६ ॥

शब्दार्थ—बंदनवार—आम की हरी पत्तियों की झालर जो द्वार पर लटकाई जाती है। बितान—मंडप। पताका—झंडा, ध्वजा। सफल सपल्लव—फलों और पत्तों से युक्त। मंगल तरुवर—मांगलिक वृक्ष जैसे आम, अशोक, कदम्ब आदि।

अर्थ—प्रत्येक घर में लोग बंदनवार, वितान और ध्वजा लगाते हैं तथा पत्र-फल-युक्त मांगलिक वृक्ष खड़े करते हैं।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है—

"सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कलकरनी"॥

मंगल बिटप मंजुल बिपुल दधि दूब अच्छत रोचना।
भरि थार आरति सजहिं सब सारंग-सावक-लोचना॥
मन मुदित कौसल्या सुमित्रा सकल भूपति-भामिनी।
सजि साजि परिछन चलीं रामहिं मत्त-कुंजरगामिनी २०७

शब्दार्थ—बिटप—पेड़। मंजुल—सुंदर। बिपुल—बहुत। सारंग-सावकलोचना—हिरन के बच्चे की आँखों के समान सुंदर नेत्रोंवाली स्त्रियाँ। परिछन चलीं—आरती करने चलीं। मत्त-कुंजरगामिनी—मतवाले हाथी की भाँति झूम-झूमकर चलनेवाली स्त्रियाँ।

अर्थ—अनेक सुंदर मांगलिक वृक्ष लगाए गए। मृग-शावकनयनी बालाएँ थाल में दही, दूर्वा, अक्षत, रोली आदि वस्तुएँ भरकर आरती के सारे सामान सजाती हैं। कौशल्या और सुमित्रा आदि सभी रानियाँ मन में प्रसन्न हो रही हैं। सज-सजाकर मस्त हाथी के समान चलनेवाली सुंदर सभी स्त्रियाँ रामचंद्रजी को परछने चलीं।

टिप्पणी—इस छंद में बरात के प्रत्यागमन के स्वागत की प्रसन्नता का वर्णन है।

बधुन्ह सहित सुत चारिउ मातु निहारहिं।
बारहिं बार आरती मुदित उतारहिं॥ २०८॥

शब्दार्थ—बधुन्ह—दुलहिनों के। निहारहिं—देखती हैं।

अर्थ—माताएँ बहुओं सहित चारों पुत्रों को देखती हैं और प्रसन्न होकर बार बार आरती उतारती हैं।

टिप्पणी—'मानस' में लिखा है—

"बधुन्ह समेत देखि सुत चारी।

× × × ×

बारहिं बार आरती करहीं॥"

करहिं निछावरि छिनु छिनु मंगल मुद भरी।
दुलह दुलहिनिन्ह देखि प्रेम-पय-निधि परीं॥२०९॥

शब्दार्थ—मुद—मोद, प्रसन्नता। दुलह—वर। प्रेम-पय-निधि—प्रेम-रूपी जल के कोष में अर्थात् प्रेम-समुद्र में।

अर्थ—आनंद और मंगल में भरकर रानियाँ प्रेम-समुद्र में डूब गईं और वर-वधू को देख देखकर क्षण क्षण भर में निछावर करने लगीं।

टिप्पणी—'छिनु छिनु' में पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।

देत पाँवड़े अरघ चलीं लै सादर।
उमगि चलेउ आनंद भुवन भुइँ बादर॥२१०॥

शब्दार्थ—अरघ (अर्घ्य)—पथ-प्रक्षालन, घर के मार्ग में छिड़काव। भुवन—लोक, दिङ्मंडल। बादर—बादल (इस स्थान पर 'बादर' शब्द से 'आकाश' अर्थ अभिप्रेत है)।

अर्थ—द्वार से पाँवड़े बिछाकर अर्घ्य देती हुई माताएँ नववधुओं को बड़े सत्कार के साथ महल में ले चलीं। इस समय जो महान् आनंद हुआ उसने उमड़कर सारे भुवनों, पृथ्वीतल तथा आकाश को भर दिया।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में 'भ' का वृत्त्यनुप्रास है।

नारि उहार उघार दुलहिनिन्ह देखहिं ।
नैनलाहु लहि जनम सफल करि लेखहिं ॥२११॥

शब्दार्थ--उहार--आवरण, पिछौड़, परदा। उघारि--खोलकर। नैनलाहु--नेत्र पाने का फल, दर्शन। लेखहिं--समझती हैं।

अर्थ--स्त्रियाँ घूँघट खोलकर नववधुओं का मुँह देखती हैं। उनका दर्शन पाकर वे अपने जीवन को सफल मान लेती हैं। ('घूँघट' के स्थान में 'पालकी का परदा' भी हो सकता है।)

टिप्पणी--'जनम सफल करि लेखहिं'--स्त्रियाँ स्वभावत: रूप को देखकर मुग्ध होती होंगी और यह कह उठती होंगी कि "जीती रहीं तो यह भी देख लिया।"

'नयनलाभ' और 'जीवनलाभ' दोनों में महान् अंतर है किंतु यह अनुभवसिद्ध है कि स्थूल रूप की पुजारिनियाँ उन्हें देखकर अपना जीवन सफल कर लेती हैं। गोसाईंजी के काव्य में यही अनुभव उत्कर्ष का विशेष कारण रहा है। 'उघारि' 'उघारि' में यमक और दूसरी पंक्ति में 'ल' का अनुप्रास है।

भवन आनि सनमानि सकल मंगल किये।
बसन कनक मनि धेनु दान बिप्रन्ह दिये ॥२१२॥

शब्दार्थ--भवन--घर, अंतःपुर। आनि (सं० आनीय)--लाकर। सकल--सारे, सब ने। बसन--वस्त्र। कनक--स्वर्ण। धेनु--गाय। बिप्रन्ह--ब्राह्मणों को।

अर्थ--अंतःपुर में लाकर नववधुओं का सत्कार किया गया। सब ने सब प्रकार की आनंद-बधाइयाँ गाईं।

फिर सब रानियों ने ब्राह्मणों को वस्त्रों, सोने, मणियों और गायों आदि के दान दिए।

टिप्पणी—उक्त छंद में 'सकल' को केवल रानियों के लिये प्रयुक्त करना समीचीन है। किंतु दान आदि कर्म अन्य मान्य स्त्रियाँ भी यथायोग्य किया करती हैं। पुनः 'सकल' को मंगल का विशेषण मान लेने पर क्रियाओं का कर्ता पूर्व छंद का 'नारि' शब्द लेना चाहिए।

'मंगल' से तात्पर्य विशेषकर बधाई के गीतों से है। आजकल तो वृद्ध स्त्रियाँ 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' के गीत ही गाती हैं। कहते हैं, तुलसीदासजी ने उनकी रचना इसी लिये की थी।

जाचक कीन्ह निहाल असीसहिं जहँ तहँ।
पूजे देव पितर सब राम-उदय कहँ॥२१३॥

शब्दार्थ—जाचक—भिखारी। निहाल—संतुष्ट। राम-उदय—रामचंद्रजी की उन्नति। कहँ—को, के लिये।

अर्थ—भिखारी या मँगतों को दान से संतुष्ट कर दिया। वे सब स्थानों में आशीर्वाद देते दृष्टिगोचर हुए। इसी प्रकार सभी देवताओं तथा पितरों की पूजा इसलिये की गई जिससे रामचंद्रजी की उन्नति हो।

टिप्पणी—उक्त छंद में प्रथम पंक्ति प्रस्तुत दृश्य को यथातथ्य प्रस्तुत करती है और दूसरी गोस्वामीजी के उस भाव का निदर्शन करती है जिसे अपने पाठकों के हृदय में वे प्रविष्ट करना चाहते हैं। वह है आगामी जीवन के कल्याण के लिये देवताओं और पितरों की पूजा।

इस छंद में 'राम-उदय' पूर्ण संस्कृत रूप में है।

नेगचार करि दीन्ह सबहि पहिरावनि।
समधी सकल सुआसिनि गुरुतिय पावनि ॥ २१४ ॥

शब्दार्थ—नेगचार—कामकाजी प्रजा या नौकरों को संस्कार के उप-लक्ष्य में जो धन-वस्त्र आदि दिए जाते हैं उसकी क्रिया 'नेगचार' कहलाती है। पहिरावनि—पोशाक, वस्त्र। समधी—वर के पिता, दशरथ। गुरुतिय—वशिष्ठजी की पत्नी, अरुन्धती। पावनि—पवित्र; पौनिया परजा।

अर्थ—राजा दशरथ ने नेगचार करके, सभी सौभाग्यवती स्त्रियों और अरुंधती तथा परजों को वस्त्र दान किया (अथवा सभी सौभाग्यवती स्त्रियों तथा पवित्र अरुंधती को वस्त्र दान किया)।

टिप्पणी—(१) उक्त दोनों अर्थों में दूसरा अर्थ अधिक उचित है; क्योंकि परजों और अरुंधती का प्रत्यक्ष रूप में एक ही कोटि में परिगणित होना अनुचित है। फिर परजा को ही नेगचार किया जाता है; अतः पुनः उसका नाम आना आवश्यक भी प्रतीत होता है।

(२) 'समधी सकल सुआसिनि' में 'स' का अनुप्रास है।

जोरी चारि निहारि असीसत निकसहिं।
मनहुँ कुमुद बिधु-उदय मुदित मन बिकसहिं ॥२१५॥

शब्दार्थ—जोरी, दंपति, जोड़ी, मिथुन। कुमुद—बघौला, कोईं, यह सफ़ेद रंग का एक फूल होता है जो रात्रि में फूलता है, चंद्रमा के संसर्ग से यह पूर्ण विकास पाता है। बिधु—चंद्रमा। बिकसहिं—प्रफुल्लित होते हैं।

अर्थ—जो लोग चारों वर-वधुओं की जोड़ियों का अवलोकन करके महलों से लौटते हैं वे आशीर्वाद देते

आ रहे हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों चंद्रमा का उदय होने से मुकुदों का विकास हो उठा हो।

टिप्पणी—इस छंद में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

बिकसहिं कुमुद जिमि देखि बिधु भइ अवध सुख सोभामई।
एहि जुगुति राजबिवाह गावहिं सकल कबि कीरति नई॥
उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं॥२१६

शब्दार्थ—अवध—अयोध्या नगरी। एहि—इसी। जुगुति—युक्ति, प्रकार, ढंग। उपवीत—यज्ञोपवीत। उछाह (उत्साह)—उत्सव। अनुदिनु—प्रतिदिन, भविष्य।

अर्थ—जिस प्रकार चंद्रमा का उदय देखकर कुमुद विकसित हो उठते हैं उसी प्रकार युवराज-विवाह के कारण आज अयोध्यावासी सुखी हैं और (चाँदनी राति की भाँति) अयोध्या सुख और शोभा से युक्त हुई।

इस (नवीन) युक्ति से सब कवि राज-विवाह का मंगल-गीत गाते और नवीन कीर्ति प्राप्त करते हैं।

जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) और विवाह आदि के उत्सवों में राम-जानकी-मंगल को गाते हैं, तुलसीदासजी कहते हैं कि, वे सभी स्त्री-पुरुष अपने आनेवाले दिनों में कल्याण के भागी होते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छंद में गोसाईंजी 'राम' के संबंध में कही जानेवाली बात की महत्ता प्रदर्शित करते हैं। पार्वती-मंगल का अंतिम छंद भी इसी प्रकार है—

"कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥"

(२) कुछ लोगों का विचार है कि उक्त छंद में 'राज' के स्थान पर 'राम' पाठ होना चाहिए। वास्तव में, तुलसीदासजी राम के भक्त थे और राजसत्ता की भक्ति में वे कुछ नहीं कह सकते थे। पुनः जानकी-मंगल 'राजा' से उतना संबद्ध नहीं जितना केवल युवराज 'राम' से है। अतः इसमें 'राज' शब्द प्रमादवश लिख लिया गया जान पड़ता है।

(३) इस छंद की अंतिम पंक्ति में 'न' का सुंदर अनुप्रास है।

(४) गोसाईं जी ने उक्त पूरे दृश्य को संक्षेप में और भी अच्छे ढंग से, निम्नलिखित गीत में, अंकित किया है,—

"मुदित-मन आरती करै माता।
कनक बसन मनि वारि वारि करि पुलक प्रफुल्लित गाता॥ १॥
पाँलागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता।
देहिं असीस 'ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता।' ॥ २॥
रामसीय-छबि देखि जुवतिजन करहिं परसपर बाता।
अब जान्यो साँचहू सुनहु, सखि! कोबिद बड़ो बिधाता॥ ३॥
मंगल-गान निसान नगर नभ, आनँद कह्यो न जाता।
चिरजीवहु अवधेस-सुवन सब तुलसिदास सुखदाता" ॥ ४॥